संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० १

आचार्य उमास्वामी विरचित

तत्त्वार्थसूत्र

अनुवादक/सम्पादक

पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

तत्त्वार्थसूत्र

कृतिकार : आचार्य उमास्वामी

अनुवादक एवं
सम्पादक : पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री

संस्करण : २८ जून, २०१७
(आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५४३)

आवृत्ति : ११००

वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं. ४५, सेक्टर-एफ , इन्डस्ट्रीयल एरिया गोविन्दपुरा

भोपाल, ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को श्रृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से अनेक भाषाओं में अनुदित मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जिस पर अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी॰ लिट्॰, पी-एच॰ डी॰ की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में

छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

पूर्व में यह ग्रन्थ भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा से प्रकाशित था। आचार्य उमास्वामी विरचित इस तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ पर यद्यपि अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं, फिर भी तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भिक पाठकों के लिए अति संक्षिप्त अर्थ के साथ पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री ने जो अनुवाद किया है वह बहुत उपयोगी है। पाठकों की माँग देखते हुए तथा आचार्य संघ में सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्र की शिक्षा इसी लघुकाय कृति के द्वारा सभी ब्रह्मचारी भाई एवं बहिनों को प्रदान की जाती है। अतः इसकी उपयोगिता को देखते हुए यह ग्रन्थ पुनः प्रकाशित किया जा रहा है। एतदर्थ पूर्व प्रकाशन संस्था, अनुवादक एवं पुनः प्रकाशन में सहयोगी सभी सुधी जनों का आभार व्यक्त करते हैं।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

श्रद्धेय पं० कैलाशचन्द्रजी 'सिद्धान्त शास्त्री'

श्रद्धेय पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री एक ऐसे सारस्वत हैं, जिनकी बहुमुखी सरस्वती ने भाषण-प्रवचन, लेखन, सम्पादन और अध्यापन सभी क्षेत्रों में एकाधिकार प्राप्त किया है। वे राष्ट्र-मनीषी हैं, समाज-मनीषी हैं, धर्म-मनीषी हैं और हैं विद्वत्-शिरोमणि! विशाल सभाओं के मंच से जब आप भाषण करते हैं, तो सारे जन-समूह को आकर्षित कर लेते हैं। शास्त्र-सभाओं में उनके प्रवचनों को सुनने के लिए श्रोतागण पहले से ही आ बैठते हैं और घंटों उनके विद्वत्तापूर्ण किन्तु सरल एवं मार्मिक प्रवचनों को वे एकटक होकर सुनते हैं। पण्डित जी धारा-प्रवाह भाषण एवं प्रवचन करते हैं।

उनकी लेखनी भी अद्‌भुत है। वह राष्ट्रीय, सामाजिक और धार्मिक सभी विषयों पर समान रूप में प्रवाहित हैं। वे सिद्धान्त के वेत्ता सिद्धान्ताचार्य, सिद्धान्त शास्त्री और सिद्धान्तरत्न तो हैं ही; इतिहास, साहित्य, न्याय आदि विषयों के भी पारंगत मनीषी हैं। इन सभी विषयों पर आपने सैकड़ों महत्त्वपूर्ण एवं अनुसंधानात्मक निबन्ध लिखे हैं और विभिन्न प्रदेशों के विश्वविद्यालयों में आयोजित सेमिनारों (संगोष्ठियों) में शोध निबन्ध पढ़े हैं।

इनकी सम्पादन शैली भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं वैज्ञानिक है। इनके सम्पादित दर्जनों वैदुष्यपूर्ण ग्रन्थ हैं। प्राकृत और संस्कृत जैसी प्राच्य विद्याओं के अनेक ग्रन्थों का विशद अनुवाद भी इतना सुग्राह्य है कि पाठक उसके आधार से मूल ग्रन्थों में बहुत अच्छी तरह प्रवेश कर लेते हैं।

उनके आजीवन-सखा 'स्याद्वाद महाविद्यालय' और 'जैन सन्देश' दो ही हैं। स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी में छात्र जीवन से लेकर अध्यापन जीवन तक और अब उसके अधिष्ठाता होकर उसकी सेवा में आज भी संलग्न हैं। 'जैन सन्देश' के आप जब से सम्पादक हुए हैं, तब

से उससे भी आप जुड़े हुए चले आ रहे हैं। कितने ही व्यक्ति एक संस्था या एक पत्र को छोड़कर उन्नति की दूसरी संस्था या दूसरे पत्र को पकड़ लेते हैं। वे चाहते तो ऐसा कर सकते थे। किन्तु श्रद्धेय पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री आज भी इन दोनों से सम्बद्ध हैं–उनके साथ पण्डित जी का अटूट सम्बन्ध है। अतएव पण्डित जी इन दोनों के वस्तुतः सच्चे साथी (मित्र) हैं। यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

हम समझते हैं कि श्रद्धेय पण्डितजी और ग्रन्थों, लेखों आदि की रचना न भी करते तब भी यह अकेली एक कृति उनके यश को और उनके नाम को अमर रखेगी। इसका लाखों की संख्या में प्रकाशन हो और देश में तथा विदेश में इसे पहुँचाया जाये, इस भावना के साथ–

दिनांक ०१.०१.१९८५ **डॉ० दरबारीलाल कोठिया**

वाराणसी–५ सेवा–निवृत रीडर (का० हि० वि० वि०)

प्रस्तावना

प्रस्तुत सूत्रग्रन्थ जैन साहित्य का आद्य सूत्रग्रन्थ तो है ही, संस्कृत जैन साहित्य का भी यह आद्य ग्रन्थ है। उस समय तक जैन साहित्य प्राकृत भाषा में ही पाया जाता था तथा उसी में नये साहित्य का सृजन होता था। इस ग्रन्थ के रचयिता ने संस्कृत भाषा में रचना करने का ओंकार किया और समस्त जैनसिद्धान्त को सूत्रों में निबद्ध करके गागर में सागर को भरने की कहावत को चरितार्थ कर दिखाया। यह संकलन इतना सुसम्बद्ध और प्रामाणिक साबित हुआ कि भगवान् महावीर की द्वादशाङ्ग वाणी की तरह ही यह जैनदर्शन का आधार स्तम्भ बन गया। न्यायदर्शन में न्याय सूत्रों को, वैशेषिक दर्शन में वैशेषिक सूत्रों को मीमांसा दर्शन में जैमिनी सूत्रों को, वेदान्त दर्शन में वादरायण सूत्रों को और योग दर्शन में योग सूत्रों को जो स्थान प्राप्त है, वही स्थान जैनदर्शन में इस सूत्रग्रन्थ को प्राप्त है।

जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों में इसकी एक-सी मान्यता और आदर है। दोनों सम्प्रदायों के प्रमुख आचार्यों ने इस पर महत्त्वपूर्ण टीकाग्रन्थ रचे हैं। इसके 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र को आधार बनाकर अनेक दार्शनिकों ने प्रमाणशास्त्र का विवेचन किया है। दिगम्बर जैनों में तो इसके पाठमात्र से एक उपवास का फल बतलाया है। यथा

''दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः।''

अर्थात् दस अध्याय प्रमाण तत्त्वार्थ का पाठ करने पर उपवास का फल होता है, ऐसा मुनिश्रेष्ठों ने कहा है।

१. नाम—इस ग्रन्थ का प्रथम सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' है, जिसके द्वारा इसमें मोक्ष का मार्ग बतलाया गया है, यही इसका प्रधान विषय है। इसी से इसको मोक्षशास्त्र भी कहते हैं। तथा दूसरा

सूत्र है–'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।' इसमें तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बतलाकर आगे दसों अध्यायों में सात तत्त्वों का ही विवेचन क्रमवार किया है। प्रथम चार अध्यायों में जीव तत्त्व का, पाँचवें अध्याय में अजीव तत्त्व का, छठे और सातवें अध्याय में आस्रव तत्त्व का, आठवें अध्याय में बन्ध तत्त्व का, नौवें अध्याय में संवर और निर्जरा तत्त्व का तथा दसवें अध्याय में मोक्ष तत्त्व का वर्णन है। इस पर से इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम तत्त्वार्थ है। यही इसका मूल नाम है; क्योंकि इस ग्रन्थ की सबसे महत्त्वपूर्ण तीन टीकाओं में से पहली टीका सर्वार्थसिद्धि को तत्त्वार्थवृत्ति, दूसरी टीका को तत्त्वार्थवार्तिक, तीसरी को तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक नाम उनके रचयिताओं ने ही दिया है। तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के रचयिता आचार्य विद्यानन्दि जी ने तो अपनी आप्तपरीक्षा के अन्त में 'तत्त्वार्थशास्त्र' नाम से ही इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। चूँकि यह ग्रन्थ सूत्ररूप में है इसलिए 'तत्त्वार्थसूत्र' नाम से ही इसकी ख्याति है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी इसी नाम से इसकी ख्याति है। इस सम्प्रदाय में जो सूत्र पाठ प्रचलित है, उस पर एक भाष्य भी है, जिसे स्वोपज्ञ कहा जाता है। उस भाष्य के आरम्भिक श्लोकों में तथा प्रशस्ति में भी उसका नाम 'तत्त्वार्थाधिगम' दिया हुआ है। इससे इसे तत्त्वार्थाधिगमसूत्र भी कहते हैं।

२–दो तरह के सूत्रपाठ

इस सूत्रग्रन्थ के दो प्रकार के सूत्रपाठ उपलब्ध हैं–एक सूत्रपाठ दिगम्बर मान्य है और दूसरा सूत्रपाठ श्वेताम्बर मान्य। प्रस्तुत संस्करण में जो सूत्रपाठ है वह दिगम्बर मान्य है। इस सूत्रपाठ के दसों अध्यायों में सूत्रसंख्या क्रमशः इस प्रकार है–

३३+५३+३९+४२+४२+२७+३९+२६+४७+९=३५७कुल संख्या। श्वेताम्बर सूत्रपाठ के दसों अध्यायों में सूत्रसंख्या क्रमशः इस प्रकार है–३५+५२+१८+५३+४४+२६+३४+२६+४९+७=३४४। प्रत्येक अध्याय के बहुत से सूत्रों में जहाँ अत्यधिक साम्यता है, वहाँ कुछ अन्तर भी है। वह अन्तर कहीं तो शाब्दिक है और कहीं सैद्धान्तिक। किन्तु

सैद्धान्तिक अन्तर कम है और शाब्दिक अन्तर अधिक है। दोनों सूत्रपाठों में ऐसे भी अनेक सूत्र हैं जो एक में हैं और दूसरे में नहीं हैं। इस दृष्टि से तीसरा अध्याय उल्लेखनीय है। क्योंकि दिगम्बर सूत्र पाठ में इस अध्याय में ३९ सूत्र हैं जबकि श्वेताम्बर सूत्रपाठ में १८ ही सूत्र हैं, जो कि अपूर्ण से जान पड़ते हैं। किन्तु श्वेताम्बर सूत्रपाठ पर जो एक भाष्य है, जिसे सूत्रकार का ही कहा जाता है, उसके द्वारा सूत्रों की कमी की पूर्ति हो जाती है।

३. दोनों सूत्रपाठों पर कुछ उल्लेखनीय टीकाएँ

दिगम्बर सूत्रपाठ पर सबसे पहली टीका आचार्य पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि है। यह टीका सबसे प्राचीन है। आचार्य पूज्यपाद का समय ईसा की पाँचवीं शती है। इसके बाद की दूसरी उल्लेखनीय टीका अकलंक देव का तत्त्वार्थवार्तिक है। इसके अवलोकन से पता चलता है कि इस वार्तिकग्रन्थ में पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अच्छा उपयोग हुआ है। अकलंक देव का समय मैंने ई० ६२० से ६८० तक निर्धारित किया था। किन्तु न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी ने उसमें एक शताब्दी बढ़कर ७२० से ७८० तक निर्धारित किया। अब न्यायाचार्य जी को अपनी भूल ज्ञात हो गयी है और आशा है वे भी उसी निर्णय पर पहुँचेंगे जिस पर मैं पहुँच चुका हूँ। तीसरी महत्त्वपूर्ण टीका विद्यानन्दि की तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक है। पं० दरबारीलालजी कोठिया ने इनका समय ई० ७७५ से ८४० तक निर्धारित किया है।

श्वेताम्बर सूत्रपाठ की सबसे प्रथम टीका तो वह भाष्य ही है, जिसे सूत्रकारकृत कहा जाता है। श्वेताम्बराचार्यों ने इस पर जो टीकाएँ रची हैं, वे केवल सूत्रपाठ पर नहीं रचीं, बल्कि सूत्रपाठ और भाष्य को एक ग्रन्थ मानकर उसी पर अपनी टीकाएँ रची हैं। सबसे प्रथम टीका आचार्य सिद्धसेनगणी की है। यह बहुत विस्तृत है। इनका समय आठवीं शताब्दी माना जाता है। अपनी इस टीका में गणी जी ने अकलंकदेव के सिद्धि-विनिश्चय नामक ग्रंथ का उल्लेख किया है। अतः यह निश्चित है कि गणी

जी की उक्त टीका तत्त्वार्थवार्तिक के बाद ही बनी है।

४. कर्ता

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मान्य तत्त्वार्थाधिगम भाष्य को स्वयं सूत्रकारकृत कहा जाता है। उसके अन्त में जो प्रशस्ति है, उसमें रचयिता का नाम उमास्वाति लिखा है।

यथा–

इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम्।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥५॥

अर्थात् उच्च नागर शाखा के उमास्वाति वाचक ने जीवों पर दया करके तत्त्वार्थाधिगम नाम के शास्त्र को रचा।

दिगम्बर सम्प्रदाय में मूल तत्त्वार्थसूत्र की प्रतियों के अन्त में जो दो–तीन श्लोक जोड़ दिये गये हैं, उनमें से एक इस प्रकार है–

तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामी मुनीश्वरम्॥

अर्थात्–तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता, गृद्धपिच्छ से युक्त, गणीन्द्र संजात, उमास्वामी मुनीश्वर को मैं नमस्कार करता हूँ।

नगर ताल्लुके के एक दिगम्बर शिलालेख संख्या ४६ में लिखा है–

''तत्त्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम्।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम्॥

इसमें तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता का नाम उमास्वाति बतलाया है और उन्हें श्रुतकेवलिदेशीय लिखा है। सम्भवतः 'गणीन्द्र संजात' का मतलब भी श्रुतकेवलीदेशीय ही जान पड़ता है।

श्रवण बेलगोला के शिलालेखों में यह श्लोक पाया जाता है–

अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छः ।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी॥

अर्थात् कुन्दकुन्द के वंश में गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति मुनीश्वर हुए। उस समय समस्त पदार्थों का ज्ञाता उनके समान दूसरा नहीं।

शिलालेख संख्या १०८ में लिखा है–

अभूदुमास्वाति मुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन॥

अर्थात्–आचार्य कुन्दकुन्द के पवित्र वंश में सकलार्थ के जानने वाले उमास्वाति मुनि हुए जिन्होंने जिन प्रणीत द्वादशांग वाणी को सूत्रों में निबद्ध किया। इस तरह दिगम्बर परम्परा के उक्त उल्लेखों में तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता का नाम उमास्वामी अथवा उमास्वाति बतलाया है और उन्हें गृद्धपिच्छाचार्य तथा श्रुतकेवलीदेशीय लिखा है तथा कुन्दकुन्दाचार्य के वंश में हुआ कहा है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि दिगम्बर परम्परा के उक्त उल्लेख प्रायः ११ वीं, १२ वीं शताब्दी के बाद के हैं। अतः यह जानना जरूरी हो जाता है कि उससे पूर्व का भी कोई उल्लेख है या नहीं ?

आचार्य विद्यानन्दिजी ने तत्त्वार्थसूत्र पर तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक रचते हुए आरम्भ में एक वाक्य दिया है–''एतेन गृद्धपिच्छाचार्य पर्यन्त मुनि सूत्रेण व्यभिचारिता निरस्ता।'' यहाँ गृद्धपिच्छाचार्य मुनिसूत्र से मतलब तत्त्वार्थसूत्र से है। अतः आचार्य विद्यानन्दि गृद्धपिच्छाचार्य को तत्त्वार्थसूत्र का रचयिता बतलाते हैं तथा आचार्य वीरसेन स्वामी भी अपनी धवला टीका में तत्त्वार्थसूत्र को गृद्धपिच्छाचार्य की कृति कहते हैं। ये दोनों ही विद्वान् लगभग समकालीन हैं। आचार्य वीरसेन स्वामी ने शक सम्वत् ७३८ (सन् ८१६ ई०) में अपनी जयधवला टीका समाप्त की है और लगभग यही समय विद्यानन्दि का है। अतः आठवीं–नौवीं शताब्दी का यह उल्लेख उक्त उल्लेखों से प्राचीन है। यद्यपि उक्त उल्लेखों में भी तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता को गृद्धपिच्छाचार्य लिखा है, किन्तु उसमें उसका नाम उमास्वाति अथवा उमास्वामी बतलाया है, जबकि इन दोनों आचार्यों ने इस विषय में

कुछ भी नहीं लिखा। जहाँ तक हम जानते हैं, इन दोनों प्रामाणिक उल्लेखों के सिवा अन्य कोई प्राचीन दिगम्बर उल्लेख तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता के विषय में अभी तक हमारे देखने में नहीं आया। अतः इनके आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि आठवीं नौंवी शताब्दी में दिगम्बर सम्मत तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता गृद्धपिच्छाचार्य माने जाते थे।

उमास्वाति नाम के साथ जो गृद्धपिच्छाचार्य शब्द का उल्लेख शिलालेखों आदि में पाया जाता है, वह बाद का है।

इस विषय पर और भी प्रकाश डालने के लिये तत्त्वार्थवार्तिक के अन्तरंग पर दृष्टि डालना आवश्यक है। उससे पहले यहाँ हम दिगम्बर और श्वेताम्बर सूत्रपाठ के कुछ सूत्रों का भेद दिखला देना आवश्यक समझते हैं, क्योंकि आगे की चर्चा से उनका सम्बन्ध है।

दिगम्बर सूत्र

अ०	सू० सं०	
१	१–२१	भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्।
२	२–७	जीवभव्याभव्यत्वानि च।
३	२–२०	स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः।
४	२–३३	जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः।
५	३–१	रत्नशर्करा.......सप्ताधोऽधः।
६	४–८	शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराः।
७	७–२	द्रव्याणि।
८	५–३	जीवाश्च।
९	५–३६	बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ च।
१०	८–६	मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्।

श्वेताम्बर सूत्र

१	१–२२	भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्।

२	२–७	जीवभव्याभव्यत्वादीनि च।
३	२–२१	स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तेषामर्थाः।
४	२–३४	जराय्वण्डपोतजानां गर्भः।
५	३–१	रत्न शर्करा........सप्ताधोऽधः पृथुतराः।
६	५–३	शेषा स्पर्श रूप शब्दमनः प्रवीचाराद्वर्योर्द्वयोः।
७–८	५–२	द्रव्याणि जीवाश्च।
९	५–३६	बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ।
१०	८–७	मत्यादीनाम्।

१. तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० ५५) में यह शंका उठायी गयी है कि नारक शब्द का पूर्व निपात होना चाहिए। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह शंका श्वेताम्बर सूत्रपाठ के 'नारक देवानाम्' पद को लक्ष्य में रखकर उठायी गयी है।

२. तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० ७९) में शंका उठायी गयी है कि 'जीवभव्याभव्यत्वानि' सूत्र में आदि पर होना चाहिये। यह शंका भी श्वेताम्बर सूत्रपाठ को लक्ष्य में रखकर उठायी गयी जान पड़ती है।

३. तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० ९२) में शंका उठायी गयी है कि 'तदर्थाः' यहाँ समास नहीं हो सकता। यह शंका भी 'तेषामर्थाः' इस श्वेताम्बर सूत्रपाठ को लक्ष्य में रखकर उठायी गयी जान पड़ती है।

इसी तरह ऊपर जो सूत्र दिये गये हैं, उन सभी को लक्ष्य करके तत्त्वार्थवार्तिक में शंका उठाकर दिगम्बर सूत्रपाठ को ही ठीक ठहराया गया है। किन्तु इससे भी इस बात की पूर्ण पुष्टि नहीं होती कि ये शंकाएँ श्वेताम्बर सूत्रपाठ को लक्ष्य में रखकर ही उठायी गयी हैं, क्योंकि वार्तिककार ने यह शंकाएँ उठाते हुए पाठभेद का उल्लेख नहीं किया है। अतः नीचे दो तीन ऐसे प्रमाण दिये जाते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि श्वेताम्बर

पाठभेद को लक्ष्य में रखकर ही ये शंकाएँ की गयी हैं।

१. तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० १०१, सूत्र ३३) में लिखा है–'केचित् पोतजा इति पठन्ति।' अर्थात् कोई लोग पोत के स्थान में 'पोतज' पढ़ते हैं। यह स्पष्ट ही श्वेताम्बर सूत्रपाठ की ओर संकेत है, क्योंकि उसी में 'जराय्वण्डपोतजानां गर्भः' यह पाठ है।

२. तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० ११३) में तीसरे अध्याय के प्रथम सूत्र के विषय में शंका की गयी है–'केचिदत्र पृथुतरा इति पठन्ति।' अर्थात् कुछ लोग इस सूत्र में 'सप्ताधोऽधः' के बाद 'पृथुतराः' पढ़ते हैं। यह स्पष्ट ही श्वेताम्बर पाठ 'सप्ताधोऽधः पृथुतरा' पर आपत्ति की गयी है।

३. तत्त्वार्थवार्तिक (पृ०२४२) पर पाँचवें अध्याय के ''बन्धेऽधिकौ परिणामिकौ'' सूत्र का व्याख्यान करते हुए अकलंकदेव ने लिखा है– ''बंधे समाधिकौ पारिणामिकौ इति अपरे सूत्रं पठन्ति'' अर्थात् दूसरे लोग इस सूत्र को इस प्रकार से पढ़ते हैं। यह पाठभेद एक मौलिक मतभेद को लिए हुए है। वह मतभेद यह है कि दिगम्बर परम्परा में तो सजातीय परमाणु हो या विजातीय परमाणु हो, बँधने वाले परमाणुओं में दो गुण का अन्तर होना जरूरी है। अर्थात् एक परमाणु दो गुण वाला हो और दूसरा चार गुण ावाला हो, तभी उनमें बन्ध हो सकता है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में यदि सजातीय परमाणु हों, तब तो दो गुण हीनाधिक होना जरूरी है। किन्तु यदि परमाणु विजातीय हों तो समान गुण होने पर ही उनमें बन्ध हो जाता है। जैसे, यदि स्निग्ध स्निग्ध का या रूक्ष रूक्ष का बन्ध हो तो एक में दो गुण और दूसरे में चार गुण होने चाहिए। किन्तु स्निग्ध रूक्ष का बन्ध हो तो दोनों में दो-दो चार-चार गुण होना चाहिये तभी बन्ध होता है। इसी मतभेद के कारण जब दिगम्बर सूत्रपाठ ''बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ'' है, तब श्वेताम्बर सूत्रपाठ ''बन्धे समाधिकौ-पारिणामिकौ'' है। अतः तत्त्वार्थ वार्तिक के उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि अकलंक देव के सामने एक सूत्रपाठ और भी था। किन्तु वह सूत्रपाठ श्वेताम्बर सम्मत वही सूत्रपाठ था। जो वर्तमान में प्रचलित है या उसका कोई पूर्वज था ? यह प्रश्न

विचारणीय है।

तत्त्वार्थवार्तिक में प्रथम सूत्र ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'' की कई उत्थानिकाएँ दी हैं। उनमें से सबसे प्रथम उत्थानिका, जो सूत्र से पहले दी गई है, वह तो सर्वार्थसिद्धि को लक्ष्य में रखकर दी गयी है। किन्तु सूत्र के बाद में भी उसका व्याख्यान करने से पहले उत्थानिका दी गयी है, जो इस प्रकार है

''अपरे आरातीयपुरुषशक्त्यपेक्षत्वात् सिद्धान्तप्रक्रियाऽऽ-विष्करणार्थ मोक्षकारणनिर्देशसम्बन्धेन शास्त्रानुपूर्वी रचयितुमन्विच्छन्नि-दमवोचददिति आचक्षते।''अर्थात्-दूसरों का कहना है कि शास्त्र रचना आरातीय पुरुषों की शक्ति की अपेक्षा रखती है। अतः सिद्धान्त की प्रक्रिया को प्रकट करने के लिये मोक्ष के कारणों का निर्देश करते हुए शास्त्र की आनुपूर्वी को रचने की इच्छा करने वाले सूत्रकार ने यह सूत्र कहा।

आशय यह है कि अकलंकदेव प्रथम सूत्र का व्याख्यान करने से पहले यह बतलाना चाहते हैं कि यह सूत्र क्यों कहा ? तत्त्वार्थसूत्र की प्राचीन टीका सर्वार्थसिद्धि में तो यह कहा है कि मोक्ष की प्राप्ति के उपायों को लेकर विभिन्न मतों में विवाद है। कोई ज्ञान से ही मुक्ति मानता है तो कोई चारित्र से ही मुक्ति मानता है। अतः तीनों को ही मुक्ति का मार्ग बतलाने के लिए सूत्रकार ने प्रथम सूत्र कहा है। यही बात अकलंक देव ने भी कही है। किन्तु 'अपरे' करके जो दूसरी उत्थानिका दी गयी वह किसकी है ?

श्वेताम्बर सम्मत सूत्रपाठ पर जो भाष्य है, उसे सूत्रकार रचित ही कहा जाता है। उसमें प्रथम सूत्र से पहले कुछ कारिकाएँ हैं। उन कारिकाओं में से २१ में तो वीर प्रभु को वर्णन पूर्वक नमस्कार किया है। २२ वीं कारिका में शिष्यों के हित के लिए अर्हद्वचनैकदेश लघुग्रन्थ तत्त्वार्थाधिगम को कहने की प्रतिज्ञा की है। आगे कुछ कारिकाओं में जिनवचन महादधि की महत्ता बतलायी है। ३० वीं कारिका में श्रेय का उपदेश करना चाहिये

ऐसा कहा है। अन्तिम कारिका इस प्रकार है–

नर्ते च मोक्षमार्गाद् हितोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन्।
तस्मात् परमिदमेवेति मोक्षमार्ग प्रवक्ष्यामि ॥३१॥

अर्थात् ''इस समस्त जगत् में मोक्षमार्ग को छोड़कर अन्य कोई हितोपदेश नहीं है, अतः उत्कृष्ट हितोपदेश जो मोक्षमार्ग है, उसे कहता हूँ।''

अतः तत्त्वार्थ वार्तिककार ने 'अपरे' करके जो उत्थानिका दी है, वह तत्त्वार्थभाष्य में भी नहीं मिलती। उक्त उत्थानिका के बाद 'आचक्षत' से आगे अकलंकदेव लिखते हैं–''**नात्र शिष्याचार्यसम्बन्धो विवक्षितः। किन्तु संसारसागरनिमग्नानेकप्राणिगणाभ्युज्जिहीर्षां प्रत्यागूर्णोऽन्तरेण मोक्ष-मार्गोपदेशं हितोपदेशो दुःप्राप इति निश्चित्य मोक्षमार्गव्याख्या-सुरिदमाह।**''

अर्थात् यहाँ शिष्य और आचार्य का सम्बन्ध विवक्षित नहीं है। किन्तु संसार सागर में निमग्न अनेक प्राणिगणों के उद्धार के लिये उद्यत आचार्य ने मोक्षमार्ग के उपदेश के बिना हितोपदेश दुष्प्राप्य है, ऐसा निश्चय करके यह सूत्र कहा है।

यहाँ ''अन्तरेण मोक्ष मार्गोपदेशं हितोपदेशो दुःपापः'' यद्यपि यह वाक्य भाष्य कारिका के ''नर्ते च मोक्षमार्गाद् हितोपदेशोऽस्ति'' इस अंश का स्मरण करा देता है। किन्तु प्रथम तो भाष्य में इसके पूर्व का भाग नहीं है, दूसरे भाष्यकार ने इस ग्रन्थ को शिष्य हित के लिए बनाने का निर्देश किया है। अतः यदि जरा देर के लिये मान भी लिया जाय कि उत्थानिका के अन्तिम शब्द भाष्य की ओर संकेत करते हैं फिर भी यह जिज्ञासा तो बनी ही रहती है कि उक्त 'अपरे' इत्यादि उत्थानिका का संकेत किस ओर है? क्या तत्त्वार्थसूत्र की कोई दूसरी वृत्ति अकलंक देव के सामने थी ?

हमारी इस आशंका की पुष्टि तत्त्वार्थ वार्तिक के एक दूसरे स्थल से भी होती है। पाँचवें अध्याय के चौथे सूत्र का व्याख्यान करते

हुए (पृष्ठ १९७) अकलंकदेव लिखते हैं–''स्यान्मतं वृत्तावुक्तमवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरन्तीति ततः षड् द्रव्याणीत्युप-देशस्य व्याघातः।''

अर्थात् ''वृत्ति में कहा है धर्म आदि द्रव्य अवस्थित हैं अर्थात् कभी भी पाँचपने को नहीं छोड़ते हैं।'' कुछ विद्वानों का विचार है कि यह वृत्ति तत्त्वार्थ भाष्य है; क्योंकि उसमें इसी सूत्र के व्याख्यान में लिखा है– ''अवस्थितानि च न कदाचित्पञ्चत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति।'' किन्तु हमारा विचार है कि यह वृत्ति तत्त्वार्थभाष्य से भिन्न कोई दूसरी ही होनी चाहिए और प्रथम सूत्र की उक्त उत्थानिका भी उसी की होगी।

यहाँ तत्त्वार्थ भाष्य और उसकी सिद्धसेन गणिकृत टीका के सम्बन्ध में भी थोड़ा प्रकाश डालना आवश्यक है।

तत्त्वार्थभाष्य की आरम्भिक कारिकाओं में एक कारिका इस प्रकार है–

महतोऽति महाविषयस्य दुर्गमग्रन्थभाष्यपारस्य।
कः शक्तः प्रत्यासं जिनवचनमहोदधेः कर्तुम् ॥२३॥

इसमें जिनवचन रूपी महोदधि की महत्ता बतलाते हुए उसे 'दुर्गम ग्रन्थ भाष्य पार' बतलाया है। टीकाकार ने इस पद का व्याख्यान इस प्रकार किया है–''**दुर्गमो ग्रन्थभाष्ययोः पारो निष्ठाऽस्य। तत्रानुपूर्व्या पदवाक्य सन्निवेशो ग्रन्थः। तस्य महत्त्वादध्ययन-मात्रेणापि दुर्गमः पारः, तस्यैवार्थविवरणं भाष्यं, तस्यापि नयवादानुगमत्वादलब्ध-पारः॥**''

अर्थात् उस जिनवचन रूपी महोदधि के ग्रन्थों और उन ग्रन्थों के अर्थ को बतलाने वाले जो उनके भाष्य हैं, उनका पार पाना कठिन है।

यहाँ तत्त्वार्थ भाष्यकार ने आगम ग्रन्थों के साथ उनके भाष्यों का भी उल्लेख किया है। अतः यह स्पष्ट है कि तत्त्वार्थ भाष्य की रचना भाष्यों के बाद में ही हुई। भाष्यों का रचनाकाल विक्रम की ७ वीं शती है। अतः

तत्त्वार्थ भाष्य सातवीं शती के पहले की रचना नहीं हो सकती।

तत्त्वार्थ भाष्य की आद्य टीका सिद्धसेन गणिकृत है। सिद्धसेन गणि ने अपनी इस टीका में सिद्धिविनिश्चय नामक ग्रंथ के सृष्टि परीक्षा नामक प्रकरण को देखने का उल्लेख किया है। अकलंक देवकृत सिद्धि–विनिश्चय ग्रन्थ उपलब्ध है। अतः यह निश्चित है कि सिद्धिसेन गणी अकलंक के बाद में हुए हैं तथा उनकी टीका के कुछ स्थलों के देखने से यह भी पता चलता है कि उन्होंने अकलंकदेव का तत्त्वार्थ वार्तिक देखा था। उदाहरण के लिए–

१. तत्त्वार्थवार्तिक को प्रारम्भ करते हुए शंका की गयी है कि मोक्ष का उपदेश पहले क्यों नहीं किया, वह सब पुरुषार्थों में प्रधान है? इसका उत्तर दिया गया कि मोक्ष में किसी को विवाद नहीं है, विवाद कारण में है। और इतना कहकर पाटलीपुत्र मार्ग का उदाहरण दिया है। यथा– ''मोक्षोपदेशः पुरुषार्थ प्रधानत्वात्...मोक्षमेव करमान्नाप्राक्षीत् इति चेन्न कार्यविशेष सम्प्रतिपत्तेः। कारणं तु प्रति विप्रतिपत्तिः पाटलीपुत्र मार्ग विप्रतिपत्तिवत्॥''

गणी जी ने भी प्रथम सूत्र का व्याख्यान करते हुए यही शंका उठाई है और उसका समाधान भी इन्हीं शब्दों में किया है। यथा–''कस्मात् हेतव एव मोक्षस्य कथ्यन्ते न पुनः स एव प्रधानत्वादादौ प्रदर्श्यते...सत्यमसौ प्रधानः तथापि तु तत्र प्रायो वादिनां नास्ति विप्रतिपत्तिः...तद्धेतुषु प्रायो विसंवादः''। इतना ही नहीं, इसी सूत्र के व्याख्यान में ''पाटलीपुत्रगामि मार्गवत्'' दृष्टान्त का भी प्रकारान्तर से उपयोग किया है।

२. तत्त्वार्थवार्तिक में दो वार्तिक इस प्रकार हैं–''एषां पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्। उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः॥'' ये ही वाक्य तत्त्वार्थ भाष्य में भी हैं। गणीजी ने इनका जो व्याख्यान किया है तथा 'अपरे' करके जिस व्याख्यान्तर का निर्देश किया है उन्हें देखने से तत्त्वार्थ वार्तिक का स्मरण बरबस हो आता है। अतः यह निश्चित है कि सिद्धसेन गणी विक्रम की आठवीं शताब्दी से पहले नहीं हुए। तथा दसवीं शताब्दी के विद्वान्

शीलांक और अभयदेव ने उनकी तत्त्वार्थ टीका से उद्धरण दिये हैं। अतः वे विक्रम की आठवीं और दसवीं शताब्दी के मध्यवर्ती समय में हुए हैं। अतः विक्रम की सातवीं शती के बाद में रचे हुए भाष्य पर सिद्धसेन को टीका रचे जाने में कोई अनुपपत्ति खड़ी नहीं होती। इसके विपरीत यदि भाष्य को मूल ग्रंथकार की रचना माना जाता है तो दिगम्बर सम्मत सूत्रपाठ पर सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक जैसी महत्त्वपूर्ण टीकाओं के रचे जाने पर भी भाष्य पर एक भी तत्कालीन टीका का न मिलना उसकी स्थिति में सन्देह पैदा करता है।

कहा जा सकता है कि तत्त्वार्थवार्तिक के अन्त में 'उक्तं च' करके जो कारिकाएँ पायी जाती हैं, वे तत्त्वार्थभाष्य की हैं, तथा अन्य भी कुछ ऐसे वाक्य मिलते हैं, जो तत्त्वार्थभाष्य के हो सकते हैं ? किन्तु इन सबकी स्थिति सन्देहजनक है; क्योंकि अकलंक देव के सामने जो एक अन्य वृत्ति होने का आभास मिलता है, सम्भव है ये सब उससे लिया गया हो।

तत्त्वार्थवार्तिक का एक और भी उल्लेख ध्यान देने योग्य है। पाँचवें अध्याय के ''द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः'' सूत्र का व्याख्यान करते हुए अकलंक देव ने लिखा है–''उक्तं हि अर्हत्प्रवचने, द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः।'' यह 'अर्हत्प्रवचन' नामक ग्रन्थ कौन-सा है जो सूत्र रूप है तथा जिसके सूत्र तत्त्वार्थसूत्र के ही समान हैं ? यह एक विचारणीय प्रश्न है।

कहा जा सकता है कि सिद्धसेन गणी ने अपनी टीका की पुष्पिकाओं में तत्त्वार्थाधिगम को 'अर्हत्प्रवचन संग्रह' लिखा है, तथा भाष्यकार ने अपनी कारिकाओं में 'अर्हद्वचनैकदेशस्य संग्रह' लिखा है। अतः 'अर्हत्प्रवचन' से अकलंक ने तत्त्वार्थभाष्य का ही उल्लेख किया है। किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि अर्हत्प्रवचन में और अर्हत्प्रवचन-संग्रह में बहुत अन्तर है। प्रत्युत इन उल्लेखों से मेरे मन में एक सन्देह पैदा हुआ है और वह यह है कि यह तत्त्वार्थभाष्य कहीं उस 'अर्हत्प्रवचन' से ही तो संकलित नहीं है, जिसका उल्लेख अकलंक देव ने किया है ? क्योंकि भाष्य की प्रशस्ति में भाष्यकार ने लिखा है– **''अर्हद्वचनं सम्यक्**

गुरुक्रमेणागतं समवधार्य'' अर्थात् गुरुपरम्परा से चले आये हुए 'अर्हत्वचन' को भले प्रकार अवधारण करके यह ग्रन्थ रचा। तथा आरम्भ में इसे अर्हत्वचन के एक देश का संग्रह बतलाया है। और 'अर्हद्वचन' और 'अर्हत्प्रवचन' में कोई अन्तर नहीं है। इस पर से इसे 'अर्हत्प्रवचन संग्रह' कहना भी उचित प्रतीत होता है।

अकलंकदेव के द्वारा उल्लिखित 'अर्हत्प्रवचन' अथवा 'अर्हत्प्रवचन हृदय' नामक ग्रन्थ दिगम्बर सम्मत ही जान पड़ता है। यह भी सम्भव है कि वह उभय सम्प्रदाय को सम्मत हो और दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सूत्रपाठों का वही उद्गम स्थान हो। सम्भवतया इसी से सूत्रकार को कोई दिगम्बर सिद्ध करता है तो कोई श्वेताम्बर सिद्ध करता है और कोई यापनीय सिद्ध करता है; जब कि उभय सम्प्रदाय सम्मत कुछ उल्लेखनीय सूत्रों की स्थिति दिगम्बर परम्परा के अधिक अनुकूल है। उदाहरण के लिये सोलहकारण भावना और २२ परीषहों को बतलाने वाले सूत्र उपस्थित किये जा सकते हैं। अस्तु, इतना प्रासंगिक कथन करने के बाद हम पुनः उसी चर्चा पर आते हैं।

यह स्पष्ट है कि प्रारम्भ से ही तत्त्वार्थसूत्र का जितना समादर दिगम्बर सम्प्रदाय में रहा है, उतना श्वेताम्बर सम्प्रदाय में नहीं रहा। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तो वह पीछे से प्रविष्ट हुआ प्रतीत होता है, जिसका श्रेय सम्भवतः तत्त्वार्थभाष्य के कर्ता को है। भाष्यकार ने अपनी प्रशस्ति में अपना नाम उमास्वाति दिया है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्राचीन माने जाने वाली कल्पसूत्र स्थविरावली और नन्दिसूत्र पट्टावली में उमास्वाति का नाम तक नहीं है। शेष जिन पट्टावलियों में यह नाम है वे सब प्रायः १३ वीं शताब्दी के बाद की हैं।

दिगम्बर परम्परा में भी उमास्वामी या उमास्वाति का उल्लेख ११ वीं, १२ वीं शताब्दी के बाद ही शिलालेखों में मिलता है। इससे पहले का कोई उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया। तत्त्वार्थसूत्र के आद्य टीकाकार पूज्यपाद देवनंदी ने और अकलंकदेव ने उसके कर्ता का उल्लेख नहीं

किया। हाँ, विद्यानन्दी ने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में चर्चा करते हुए तत्त्वार्थसूत्र को गृद्धपिच्छाचार्य मुनि का अवश्य बतलाया है, किन्तु उन्होंने भी ग्रन्थ के आरम्भ में या अन्त में कहीं भी उसके कर्ता का उल्लेख नहीं किया है।

ईसा की ११वीं शताब्दी के विद्वान् प्रभाचन्द्राचार्य ने सर्वार्थसिद्धि पर तत्त्वार्थवृतिपद नाम से जो टिप्पणी लिखी है, उसमें भी सूत्रकार का उल्लेख नहीं है। १३ वीं शताब्दी के श्री भास्करनन्दी की सुखबोध नाम की वृत्ति में भी सूत्रकार का उल्लेख नहीं है। हाँ, विक्रम की १३ वीं शती के विद्वान बालचन्द्र मुनि की बनायी हुई, कन्नड़ी टीका में उमास्वाति नाम दिया है और साथ ही गृद्धपिच्छाचार्य नाम भी दिया है। इस टीका में तत्त्वार्थसूत्र की उत्पत्ति जिस प्रकार से बतलाई है, उसका सार 'अनेकान्त' से दिया जाता है–

''सौराष्ट्र देश के मध्य उर्जयंत गिरि के निकट गिरि नगर नाम के पत्तन में आसन्न भव्य, स्वहितार्थी, द्विजकुलोत्पन्न, श्वेताम्बर भक्त सिद्धय्य नाम का एक विद्वान् श्वेताम्बर शास्त्रों का जानने वाला था। उसने 'दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः' यह सूत्र बनाकर एक पाटिये पर लिख दिया। एक दिन चर्या के लिए श्री गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति मुनि वहाँ आये और उन्होंने उस सूत्र के पहले 'सम्यक्' पद जोड़ दिया। जब वह विद्वान् बाहर से लौटा और उसने पाटिये पर 'सम्यक्' शब्द लगा देखा तो वह अपनी माता से मुनिराज के आने का समाचार मालूम करके, खोजता हुआ उनके पास पहुँचा और पूछने लगा– ''आत्मा का हित क्या है?'' इसके बाद के प्रश्नोत्तर प्रायः सब वही हैं जो सर्वार्थसिद्धि के आरम्भ में आचार्य पूज्यपाद ने दिये हैं।''

प्रभाचन्द्राचार्य ने अपने टिप्पण में प्रश्नकर्ता भव्य का नाम तो सम्भवतः 'सिद्धय्य' ही दिया है। किन्तु यह कथा नहीं दी। अतः नहीं कहा जा सकता कि यह कथा कहाँ तक ठीक है और इसका आधार क्या है ? फिर भी हमारे जानने में तत्त्वार्थसूत्र का यही एक ऐसा टीकाकार है,

जिसने गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति को सूत्र का कर्ता बतलाया है। श्रवणबेलगोला के जिन शिलालेखों में गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति का उल्लेख है अथवा उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता बतलाया है वे भी लगभग इसी काल के हैं।

लगभग इसी समय के आस-पास की रची हुई एक तत्त्वार्थसूत्र की टीका और है जिसका नाम अर्हत्सूत्रवृत्ति[1] है। उसमें आचार्य कुन्दकुन्द को तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता बतलाया है। इतना ही नहीं, तत्त्वार्थसूत्र के एक श्वेताम्बर टिप्पणकार ने भी ऐसा उल्लेख किया है। उसने अपनी टिप्पणी के अन्त में तत्त्वार्थसूत्र के विषय में 'दुर्वादापहर' नाम से कुछ पद्य देते हुए अपने सम्प्रदाय वालों को दो शिक्षाएँ दी हैं–''एक तो[2] तत्त्वार्थसूत्र के विधाता वाचक उमास्वाति को कोई दिगम्बर अथवा निह्नव न कहने पाये ऐसा यत्न करना चाहिये। दूसरे, कुन्दकुन्द, इडाचार्य (ऐलाचार्य) पद्मनन्दि और उमास्वाति, ये एक ही व्यक्ति के नाम कल्पित करके जो लोग इस ग्रन्थ का आद्यकर्ता कुन्दकुन्द को बतलाते हैं, वह ठीक नहीं है। वह कुन्दकुन्द इस तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता प्रसिद्ध उमास्वाति से भिन्न ही है।''

इस तरह १३ वीं, १४ वीं शती में भी तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता को लेकर मतभेद के उल्लेख मिलते हैं। किन्तु इस मतभेद का कारण 'गृद्धपिच्छाचार्य' नाम ही प्रतीत होता है; क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द की भी गृद्धपिच्छाचार्य नाम से ख्याति थी। इसकी चर्चा डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने प्रवचनसार की प्रस्तावना में की है। इसी की वजह से आचार्य कुन्दकुन्द को भी तत्त्वार्थसूत्र का रचयिता किन्हीं ने मान लिया प्रतीत होता है। अतः इस पर से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि दिगम्बर परम्परा के सूत्रपाठ के रचयिता गृद्धपिच्छाचार्य नाम के कोई आचार्य थे। यही प्राचीन उल्लेख है जिसकी चर्चा ऊपर की है। श्वेताम्बर सूत्रपाठ सहित उमास्वाति के भाष्य का प्रचलन होने पर कालान्तर में गृद्धपिच्छाचार्य और उमास्वाति नाम को

१. देखिए अनेकान्त वर्ष-१, पृ० २७० आदि।

२. देखिए अनेकान्त वर्ष-१, किस्त-४, पृ०-१९८,१९९।

भ्रमवश मिला दिया गया हो यह सम्भव है जैसा कि सिद्धान्तशास्त्री पं० फूलचन्द जी का भी मत है।

४. आद्य मंगलश्लोक

यद्यपि पूज्यपाद, अकलंकदेव और विद्यानन्दि ने 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' आदि मंगलश्लोक का अपनी टीका के आरम्भ में व्याख्यान नहीं किया। फिर भी विद्यानन्दि उसे सूत्रकार का ही मानते हैं जैसा कि आप्तपरीक्षा के 'इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा' इस उल्लेख से स्पष्ट है। तथा तत्त्वार्थसूत्र के उत्तरकालीन टीकाकार भास्करनन्दि श्रुतसागर आदि ने उसे सूत्रकारकृत मान कर उसका व्याख्यान भी किया है। इसी से हमने भी सूत्रकारकृत मानकर ही ग्रन्थ के आदि में उसे स्थान दिया है।

प्रस्तुत टीका के संबंध में

तत्त्वार्थसूत्र एक ऐसा ग्रन्थ है जिसकी टीका लिखना टीकाकार के लिये एक महत् सौभाग्य की वस्तु है। इसी से जहाँ इस पर अनेक महत्त्वपूर्ण और असाधारण संस्कृत टीकाएँ रची गई हैं, हिन्दी टीकाएँ भी अनेक हैं। फिर भी मेरा यह विचार हुआ कि इस ग्रन्थ पर हिन्दी में एक ऐसी टीका लिखी जानी चाहिये जिसमें सब संस्कृत टीकाओं की आवश्यक तथा उपयोगी बातें आ जायें। किन्तु जब मैंने लिखना प्रारंभ किया तो मेरा विचार बदल गया और तब मैंने यह स्थिर किया कि सूत्र के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए जो उपयोगी बातें हों वही दी जायें। तथा टीका इस ढंग से लिखी जाये कि तत्त्वार्थसूत्र पढ़ने वाले और सर्वार्थसिद्धि पढ़ने वाले छात्रों के साथ ही साथ स्वाध्याय प्रेमियों के भी काम आ सके। अतः मैंने सूत्र का अर्थ तो तत्त्वार्थसूत्र पढ़ने वालों की दृष्टि रखकर लिखा है और विशेषार्थ तथा शंका समाधान प्रायः सर्वार्थसिद्धि पढ़ने वालों की दृष्टि से लिखे हैं इसी से विशेषार्थ से बाहर जो शंका समाधान हैं, उन्हें ब्रेकेट में दे दिया है। सर्वार्थसिद्धि की दार्शनिक चर्चाओं को छोड़कर उसकी प्रायः सभी सैद्धान्तिक चर्चाएँ विशेषार्थों में आ गई हैं। दार्शनिक चर्चाओं को मैंने इसलिए छोड़ दिया है कि प्रथम तो उनका तत्त्वार्थसूत्र के साथ ऐसा

सम्बन्ध नहीं है कि उनके बिना उसके मन्तव्यों को समझने में कठिनाई हो। दूसरे, वे चर्चाएँ स्वाध्याय प्रेमियों की दृष्टि से उतनी उपयोगी नहीं हैं, जितनी गहन हैं। कहीं कहीं एक दो बात तत्त्वार्थ राजवार्तिक से भी ले ली गयी हैं। इस तरह यह मेरी टीका अब तक की हिन्दी टीकाओं से कुछ भिन्न ही प्रकार की है। मैंने प्रत्येक अर्थ और विशेषार्थ को नपे तुले शब्दों में लिखा है, ज्यादा विस्तार नहीं किया है, फिर भी अपनी दृष्टि से इस ढंग से लिखा है कि पढ़ने वाला सरलता से उसे समझ जाये। वैसे तो तत्त्वार्थसूत्र का सभी विषय गहन है और बिना किसी के समझाये उसे समझना कठिन है।

तत्त्वार्थसूत्र जैन पारिभाषिक शब्दों का भण्डार है, अतः उसकी टीका में उन शब्दों की परिभाषाएँ आना स्वाभाविक है। जैन परिभाषाओं से अनजान व्यक्ति को कभी-कभी जैन ग्रन्थ पढ़ते हुए बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ जाता है। अतः मैंने इस संस्करण के अन्त में तत्त्वार्थसूत्र के पारिभाषित शब्दों का एक कोश भी अकारादि क्रम से दे दिया है, उससे पाठक प्रत्येक शब्द की परिभाषा सरलता से जान सकेंगे।

यदि मेरे इस प्रयत्न से छात्रों और स्वाध्याय प्रेमियों को कुछ भी लाभ पहुँच सका तो मैं अपने प्रयत्न को सफल समझूँगा।

-कैलाशचन्द्र शास्त्री

अनुक्रम

ॐ

आचार्य उमास्वामी विरचित

तत्त्वार्थसूत्र

मंगलाचरण

मोक्ष-मार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म-भूभृताम्।
ज्ञातारं विश्व-तत्त्वानां, वन्दे तद्गुण-लब्धये॥

अर्थ—जो मोक्षमार्ग का प्रवर्तक है, कर्मरूपी पर्वतों का भेदन करने वाला है और समस्त तत्त्वों को जानता है, उसे मैं उन गुणों की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ— यहाँ तीन विशेषणों के साथ आप्त की स्तुति की है। प्रथम विशेषण से आप्त को परम हितोपदेशी बतला कर जगत् के प्राणियों के प्रति उनका परम उपकार दर्शाया है। दूसरे विशेषण से आप्त को निर्दोष और वीतराग बतलाया है; क्योंकि जगत् के समस्त जीवों को अपने स्वरूप से भ्रष्ट करने वाले मोहनीय कर्म तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का नाश करके ही आप्त होता है। तीसरे विशेषण से अपने गुण-पर्याय सहित समस्त पदार्थों को एक साथ जानने के कारण आप्त को सर्वज्ञ बतलाया है। इस तरह परम हितोपदेशी, वीतराग और सर्वज्ञ ही आप्त है। उसी के उपदेश से शास्त्र की उत्पत्ति होती है, उसका यथार्थ ज्ञान होता है, तथा उसी के द्वारा सर्वज्ञता और वीतरागता की प्राप्ति होती है। अतः ग्रन्थ के प्रारम्भ में ऐसे आप्त को नमस्कार करना उचित ही है।

अथ प्रथमोऽध्यायः

अब ग्रन्थकार मोक्ष का उपाय बतलाते हैं—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः॥१॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिले हुए मोक्ष का मार्ग हैं।

विशेषार्थ—इस सूत्र का पहला शब्द 'सम्यक्' का अर्थ है—प्रशंसा। यह शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए। यानि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। किन्तु ये तीनों अलग-अलग मोक्ष के मार्ग नहीं हैं, बल्कि तीनों का मेल ही मोक्ष का मार्ग है। इसी से सूत्र में एकवाची 'मार्गः' शब्द रखा है।

पदार्थों के सच्चे स्वरूप के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं; पदार्थों के सच्चे स्वरूप के जानने को सम्यग्ज्ञान कहते हैं और जिन कामों के करने से कर्मबन्ध होता है, उन कामों के न करने को सम्यक्चारित्र कहते हैं।

शंका—सूत्र में ज्ञान को पहले रखना चाहिए; क्योंकि ज्ञान-पूर्वक ही पदार्थों का श्रद्धान होता है। तथा दर्शन की अपेक्षा ज्ञान में थोड़े अक्षर हैं। इसलिए भी अल्प अक्षर वाले ज्ञान को दर्शन से पहले कहना चाहिए ?

समाधान—जैसे मेघ-पटल के हटते ही सूर्य का प्रताप और प्रकाश दोनों एक साथ प्रकट होते हैं; वैसे ही दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से जिस समय आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रकट होता है, उसी समय आत्मा के कुमति और कुश्रुत ज्ञान मिटकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान रूप होते हैं। अतः सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में काल भेद नहीं है, दोनों एक साथ होते हैं।

यद्यपि 'ज्ञान' अल्प अक्षर वाला है, किन्तु अल्प अक्षर वाले से जो पूज्य होता है, वही प्रधान होता है। दर्शन और ज्ञान में दर्शन ही पूज्य है;

क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर ही मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। अतः पूज्य होने से सम्यग्दर्शन को पहले कहा है, उसके बाद ज्ञान को रखा है। तथा सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है। इसी से चारित्र को अन्त में रखा है।

अब सम्यग्दर्शन का लक्षण कहते हैं—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्॥२॥

अर्थ—जो पदार्थ जिस स्वभाव वाला है, उसका उसी स्वभाव रूप से निश्चय होना तत्त्वार्थ है और तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ—'तत्त्व' और 'अर्थ' इन दो शब्दों के मेल से 'तत्त्वार्थ' शब्द बना है। तत्त्व शब्द भाव सामान्य का वाचक है। अतः जो पदार्थ जिस रूप में स्थित है, उसका उसी रूप में होना 'तत्त्व' है। और जिसका निश्चय किया जाता है, उसे 'अर्थ' कहते हैं। अतः तत्त्व रूप अर्थ को तत्त्वार्थ कहते हैं। आशय यह कि तत्त्व का मतलब है भाव और अर्थ का मतलब है भाववान्। अतः न केवल भाव का और न केवल भाववान् का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। किन्तु भाव-विशिष्ट भाववान् का श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं—सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये सराग सम्यग्दर्शन के सूचक हैं। रागादिक की तीव्रता के न होने को प्रशम कहते हैं। संसार, शरीर और भोगों से भयभीत होने का नाम संवेग है। सब प्राणियों को अपना मित्र समझना अनुकम्पा है। आगम में जीवादि पदार्थों का जैसा स्वरूप कहा है, उसी रूप उन्हें मानना आस्तिक्य है। सराग सम्यग्दृष्टि में ये चारों बातें पायी जाती हैं तथा आत्मा की विशुद्धि का नाम वीतराग सम्यग्दर्शन है।

आगे बतलाते हैं कि सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न होता है

तन्निसर्गादधिगमाद्वा॥३॥

अर्थ—वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार से उत्पन्न होता है—स्वभाव से और पर के उपदेश से। जो सम्यग्दर्शन पर के उपदेश के बिना स्वभाव से ही उत्पन्न होता है, उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो सम्यग्दर्शन पर के उपदेश से उत्पन्न होता है, उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

विशेषार्थ—दोनों ही सम्यग्दर्शनों की उत्पत्ति का अन्तरंग कारण तो एक ही है, वह है दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम। उसके होते हुए जो सम्यग्दर्शन दूसरे के उपदेश के बिना स्वयं ही प्रकट हो जाता है, उसे निसर्गज कहते हैं और परोपदेशपूर्वक जो होता है, उसे अधिगमज कहते हैं।

सारांश यह है कि जैसे पुरानी किंवदन्ती के अनुसार कुरुक्षेत्र में बिना ही प्रयत्न के सोना पड़ा हुआ मिल जाता है, वैसे ही किसी दूसरे पुरुष के उपदेश के बिना, स्वयं ही जीवादि तत्त्वों को जानकर जो श्रद्धान होता है, वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है और जैसे सोना निकालने की विधि को जानने वाले मनुष्य के प्रयत्न से खान से निकाला हुआ स्वर्ण पाषाण सोना रूप होता है। वैसे ही दूसरे पुरुष के उपदेश की सहायता से जीवादि पदार्थों को जानकर जो श्रद्धान होता है, वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है।

अब तत्त्वों को बतलाते हैं—

जीवाजीवास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम्॥४॥

अर्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये सात तत्त्व हैं। जिसका लक्षण चेतना है, वह जीव है। जिनमें चेतना नहीं पायी जाती, ऐसे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच अजीव हैं। कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं। आत्मा और कर्म के प्रदेशों के परस्पर में मिलने को बन्ध कहते हैं। आस्रव के रुकने को संवर कहते हैं। कर्मों के एकदेश क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। और समस्त कर्मों का क्षय होने को मोक्ष कहते हैं।

शंका—तत्त्व सात ही क्यों हैं ?

समाधान—यह मोक्षशास्त्र है, इसका प्रधान विषय मोक्ष है, अतः मोक्ष को कहा। मोक्ष जीव को होता है, अतः जीव का ग्रहण किया। तथा संसार पूर्वक ही मोक्ष होता है और संसार अजीव के होने पर होता है; क्योंकि जीव और अजीव के आपस में बद्ध होने का नाम ही संसार है। अतः अजीव का ग्रहण किया। संसार के प्रधान कारण आस्रव और बंध हैं। अतः आस्रव और बंध का ग्रहण किया। तथा मोक्ष के प्रधान कारण संवर और निर्जरा हैं, इसलिए संवर और निर्जरा का ग्रहण किया।

अब सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदि के व्यवहार में आने वाले व्यभिचार (दोष) को दूर करने के लिए सूत्रकार निक्षेपों का कथन करते हैं—

नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्न्यासः॥५॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदि का नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के द्वारा निक्षेप होता है। जिस पदार्थ में जो गुण नहीं है, लोक व्यवहार चलाने के लिए अपनी इच्छा से उसको उस नाम से कहना नाम निक्षेप है। जैसे माता-पिता ने अपने पुत्र का नाम इन्द्र रख दिया। किन्तु उसमें इन्द्र का कोई गुण नहीं पाया जाता। अतः वह पुत्र नाममात्र से इन्द्र है, वास्तव में इन्द्र नहीं है।

लकड़ी, पत्थर, मिट्टी के चित्रों में तथा शतरंज के मोहरों में हाथी घोड़े वगैरह की स्थापना करना स्थापना निक्षेप है।

स्थापना दो प्रकार की होती है—तदाकार और अतदाकार। पाषाण या धातु की बनी हुई तदाकार प्रतिबिम्ब में जिनेन्द्र भगवान् की या इन्द्र की स्थापना करना तदाकार-स्थापना है और शतरंज के मोहरों में जो कि हाथी या घोड़े के आकार के नहीं हैं, हाथी घोड़े की स्थापना करना अर्थात् उनको हाथी घोड़ा मानना अतदाकार स्थापना है।

शंका— नाम और स्थापना में क्या भेद है ?

समाधान— नाम और स्थापना में बहुत भेद है। नाम तो केवल लोकव्यवहार चलाने के लिए ही रखा जाता है। जैसे किसी का नाम इन्द्र

या जिनेन्द्र रख देने से इन्द्र या जिनेन्द्र की तरह उसका आदर सम्मान नहीं किया जाता। किन्तु धातु पाषाण के प्रतिबिम्ब में स्थापित जिनेन्द्र की अथवा इन्द्र की पूजा साक्षात जिनेन्द्र या इन्द्र की तरह ही की जाती है।

जो पदार्थ आगामी परिणाम की योग्यता रखता हो, उसे द्रव्य निक्षेप कहते हैं। जैसे इन्द्र की प्रतिमा बनाने के लिए जो काष्ठ लाया गया हो, उसमें इन्द्र की प्रतिमारूप परिणत होने की योग्यता है, अतः उसे इन्द्र कहना द्रव्यनिक्षेप है।

वर्तमान पर्याय से युक्त वस्तु को भावनिक्षेप कहते हैं। जैसे स्वर्ग के स्वामी साक्षात् इन्द्र को इन्द्र कहना भाव निक्षेप है। ऐसे ये चार निक्षेप हैं।

विशेषार्थ—इन निक्षेपों का यह प्रयोजन है कि लोक में प्रत्येक वस्तु का चार रूप से व्यवहार होता पाया जाता है। जैसे इन्द्र का व्यवहार नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के रूप में होता देखा जाता है। इसी तरह सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदि का व्यवहार भी चार रूप से हो सकता है। अतः कोई नाम को ही भाव न समझ ले, या स्थापना को ही भाव न समझ बैठे, इसलिए व्यभिचार (दोष) को दूर करके यथार्थ वस्तु को समझाने के लिए ही यह निक्षेप की विधि बतलायी है। इनमें से नाम, स्थापना और द्रव्य, ये तीन निक्षेप तो द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से हैं और चौथा भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से है।

अब तत्त्वों को जानने का उपाय बतलाते हैं—

प्रमाणनयैरधिगमः॥६॥

अर्थ—प्रमाण और नयों के द्वारा जीवादिक पदार्थों का ज्ञान होता है। सम्पूर्ण वस्तु को जानने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। और वस्तु के एकदेश को जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं।

विशेषार्थ—प्रमाण के दो प्रकार हैं—स्वार्थ और परार्थ। जिसके द्वारा ज्ञाता स्वयं ही जानता है। उसे स्वार्थ प्रमाण कहते हैं। इसी से स्वार्थ प्रमाण ज्ञानरूप ही होता है; क्योंकि ज्ञान के द्वारा ज्ञाता स्वयं ही जान

सकता है। दूसरों को नहीं बतला सकता। और जिसके द्वारा दूसरों को ज्ञान कराया जाता है, उसे परार्थ प्रमाण कहते हैं। इसी से परार्थ प्रमाण वचनरूप होता है; क्योंकि ज्ञान के द्वारा ज्ञाता स्वयं जानकर वचन के द्वारा दूसरों को ज्ञान कराता है।

आगे ज्ञान के पाँच भेद बतलाये हैं–मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमें से श्रुतज्ञान के सिवा शेष चार ज्ञान तो स्वार्थ प्रमाण ही हैं, क्योंकि वे मात्र ज्ञानरूप ही हैं; परन्तु श्रुतज्ञान ज्ञानरूप भी है और वचनरूप भी है, अतः श्रुतज्ञान स्वार्थ भी है और परार्थ भी है। ज्ञानरूप श्रुतज्ञान स्वार्थ प्रमाण है, और वचनरूप श्रुतज्ञान परार्थ प्रमाण है।

जैसे तत्त्वार्थसूत्र के ज्ञाता को तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित विषयों का जो ज्ञान है, वह ज्ञानात्मक श्रुत होने से स्वार्थ प्रमाण है। और जब वह ज्ञाता अपने वचनों के द्वारा दूसरों को उन विषयों का ज्ञान कराता है, वह वचनात्मक श्रुतज्ञान परार्थ प्रमाण है। इस श्रुतज्ञान के ही भेद नय हैं।

अब प्रमाण और नय के द्वारा जाने गये जीव आदि तत्त्वों को जानने का अन्य उपाय बतलाते हैं–

निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थिति-विधानतः॥७॥

अर्थ–निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान-इन छह अनुयोगों के द्वारा भी सम्यग्दर्शन आदि तथा जीव आदि पदार्थों का ज्ञान होता है। जिस वस्तु को हम जानना चाहते हैं, उसका स्वरूप कहना निर्देश है। स्वामित्व से मतलब उस वस्तु के मालिक से है। वस्तु के उत्पन्न होने के कारणों को साधन कहते हैं। वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं। काल की मर्यादा का नाम स्थिति है। विधान से मतलब उसके भेदों से है। इस तरह इन छह अनुयोगों के द्वारा उस वस्तु का ठीक ठीक ज्ञान हो जाता है।

विशेषार्थ– वस्तु को हम जानते तो प्रमाण और नय से ही हैं, किन्तु उसके जानने में ऊपर बतलायी गयी छह बातें उपयोगी होती हैं,

उनसे उस वस्तु की पूरी-पूरी जानकारी होने में सहायता मिलती है। जैसे, हम यदि सम्यग्दर्शन को जानना चाहते हैं, तो उसके विषय में छह अनुयोग इस प्रकार घटाना चाहिए–तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं, यह निर्देश है। सम्यग्दर्शन का स्वामी जीव होता है। सम्यग्दर्शन के साधन दो हैं– अन्तरंग और बहिरंग। अन्तरंग साधन अथवा कारण तो दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है और जिनधर्म का सुनना, जिनबिम्ब का दर्शन, जातिस्मरण वगैरह बहिरंग साधन हैं। अधिकरण भी दो हैं–अन्तरंग और बहिरंग। सम्यग्दर्शन का अन्तरंग अधिकरण या आधार तो आत्मा ही है; क्योंकि सम्यग्दर्शन उसी को होता है। और बहिरंग आधार त्रसनाड़ी है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव त्रसनाड़ी में ही रहते हैं, उससे बाहर नहीं रहते। सम्यग्दर्शन की स्थिति कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त मात्र है और अधिक से अधिक सादि अनन्त है; क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व एक बार प्राप्त होने पर कभी नहीं छूटता और मुक्त हो जाने पर भी बना रहता है। सम्यग्दर्शन के दो भेद भी हैं–निसर्गज और अधिगमज। तथा तीन भेद भी हैं– औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक।

इसी तरह ज्ञान, चारित्र और जीव आदि पदार्थों में निर्देश आदि लगा लेना चाहिए।

जीव आदि को जानने के और भी उपाय बतलाते हैं–

सत्संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्पबहुत्वैश्च॥८॥

अर्थ–सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व, इन आठ अनुयोगों के द्वारा भी जीव आदि पदार्थों का ज्ञान होता है।

सत् का अर्थ अस्तित्व या मौजूदगी है। भेदों की गिनती को संख्या कहते हैं। वर्तमान निवास को क्षेत्र कहते हैं। तीनों कालों में विचरने के क्षेत्र को स्पर्शन कहते हैं। काल का अर्थ सभी जानते हैं। विरहकाल को अन्तर कहते हैं। अर्थात् एक दशा से दूसरी दशा को प्राप्त करके फिर उसी पहली दशा में आ जाने पर दोनों के बीच में जितना काल रहता है, वह विरहकाल कहलाता है। इसी को अन्तर कहते हैं। औपशमिक आदि को भाव कहते

हैं। एक दूसरे की अपेक्षा तुलना करके एक को कम दूसरे को अधिक बतलाना अल्पबहुत्व है। इन आठों के द्वारा भी सम्यग्दर्शन आदि तथा जीव आदि का ज्ञान होता है।

मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानि ज्ञानम्॥९॥

अर्थ—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान हैं। पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा पदार्थों का जो ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ से सम्बन्ध रखने वाले किसी दूसरे पदार्थ के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। जैसे, मतिज्ञान के द्वारा घट को जान कर अपनी बुद्धि से यह जानना कि यह घट पानी भरने के काम का है अथवा उस एक घट के समान या असमान जो अन्य बहुत से घट हैं, उनको जान लेना श्रुतज्ञान है। उस श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक। कर्ण इन्द्रिय के सिवा बाकी की चार इन्द्रियों के द्वारा होने वाले मतिज्ञान के पश्चात् जो विशेष ज्ञान होता है, वह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। जैसे, स्वयं घट को जानकर यह जानना कि यह घट अमुक अमुक काम में आ सकता है और कर्ण इन्द्रिय के द्वारा होने वाले मतिज्ञान के पश्चात् जो विशेष ज्ञान होता है वह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। जैसे, 'घट' इस शब्द को सुनकर कर्ण इन्द्रिय के द्वारा जो मतिज्ञान हुआ, उसने केवल शब्द मात्र को ही ग्रहण किया। उसके बाद उस 'घट' शब्द के वाच्य घड़े को देखकर यह जानना कि यह घट है और यह पानी भरने के काम का है, यह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिए हुए रूपी पदार्थ को प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं।

मनुष्यलोक में वर्तमान जीवों के मन में स्थित जो रूपी पदार्थ हैं, जिनका उन जीवों ने सरल रूप से या जटिल रूप से विचार किया है, या विचार कर रहे हैं अथवा भविष्य में विचार करेंगे, उनको स्पष्ट जानने वाले ज्ञान को मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। सब द्रव्यों की सब पर्यायों को एक साथ

स्पष्ट जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।

ऊपर प्रमाण और नयों के द्वारा वस्तु का ज्ञान होना बतलाया है। किन्तु कोई-कोई मतावलम्बी इन्द्रिय और पदार्थ का जो सन्निकर्ष सम्बन्ध होता है, उसी को प्रमाण मानते हैं, कोई इन्द्रिय को ही प्रमाण मानते हैं। अतः ऊपर कहे गये ज्ञानों को ही प्रमाण बतलाने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं–

तत्प्रमाणे ॥१०॥

अर्थ– ऊपर कहे मति आदि ज्ञान ही प्रमाण हैं, अन्य कोई प्रमाण नहीं है।

विशेषार्थ– सूत्रकार का कहना है कि ज्ञान ही प्रमाण है, सन्निकर्ष अथवा इन्द्रिय प्रमाण नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थ का जो सम्बन्ध होता है, उसे सन्निकर्ष कहते हैं। किन्तु सूक्ष्म पदार्थ–जैसे परमाणु, दूरवर्ती पदार्थ–जैसे सुमेरु और अन्तरित पदार्थ–जैसे राम, रावण आदि के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं हो सकता; क्योंकि इन्द्रिय का सम्बन्ध तो सामने वर्तमान स्थिर स्थूल पदार्थ के साथ ही हो सकता है। अतः सन्निकर्ष को प्रमाण मानने से इन पदार्थों का कभी ज्ञान ही नहीं हो सकेगा। इसके सिवा सभी इन्द्रियाँ पदार्थ को छूकर नहीं जानती हैं। मन और चक्षु जिसको जानते हैं, उससे दूर रहकर ही उसे जानते हैं। अतः ज्ञान ही प्रमाण है, सन्निकर्ष अथवा इन्द्रिय प्रमाण नहीं हैं।

आगे प्रमाण के दो भेद बतलाये हैं–प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्हीं में दूसरों के द्वारा माने गये प्रमाण के सब भेदों का अन्तर्भाव हो जाता है। इसी से 'प्रमाणे' यह द्विवचन का प्रयोग सूत्र में किया है।

अब प्रमाण के उन दो भेदों को बतलाकर सूत्रकार पूर्वोक्त पाँच ज्ञानों का उनमें अन्तर्भाव करते हैं–

आद्ये परोक्षम्॥११॥

अर्थ–पाँच ज्ञानों में से आदि के दो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष

प्रमाण हैं।

विशेषार्थ—यहाँ 'आद्य' शब्द का द्विवचन में प्रयोग होने से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का ग्रहण किया है। दोनों ज्ञान 'पर' अर्थात् इन्द्रिय, मन, उपदेश, प्रकाश आदि की सहायता से होते हैं, इसलिए ये परोक्ष हैं; क्योंकि जो ज्ञान पर की अपेक्षा से होता है, उसे परोक्ष कहते हैं।

अब मति और श्रुत के सिवा बाकी के तीन ज्ञानों को प्रत्यक्ष बतलाते हैं—

प्रत्यक्षमन्यत्॥१२॥

अर्थ—मति और श्रुत के सिवा शेष-अवधि, मनःपर्यय और केवल तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

विशेषार्थ—अक्ष नाम आत्मा का है। जो ज्ञान आत्मा से ही उत्पन्न होता है, इन्द्रिय, प्रकाश, उपदेश आदि की सहायता नहीं लेता, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं– विकल प्रत्यक्ष यानि एकदेश प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष। अवधि और मनःपर्यय विकल प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

आगे परोक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में विशेष कथन करते हैं—

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्॥१३॥

अर्थ—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध–ये मतिज्ञान के ही नामान्तर हैं; क्योंकि ये पाँचों ही मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं।

विशेषार्थ—इन्द्रिय और मन की सहायता से जो अवग्रह आदि रूप ज्ञान होता है, उसे मति कहते हैं। न्यायशास्त्र में इस ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है; क्योंकि लोकव्यवहार में इन्द्रिय से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष माना जाता है। परन्तु वास्तव में तो पराधीन होने से यह ज्ञान परोक्ष ही है। पहले जानी हुई वस्तु को कालान्तर में स्मरण करना स्मृति है। जैसे, पहले देखे हुए देवदत्त का स्मरण करना 'वह देवदत्त' यह स्मृति है। संज्ञा का दूसरा नाम प्रत्यभिज्ञान है। वर्तमान में किसी वस्तु को देखकर पहले देखी

हुई वस्तु का स्मरण होना और फिर पहले देखी हुई वस्तु का और वर्तमान वस्तु का जोड़ रूप ज्ञान होना प्रत्यभिज्ञान है।

न्यायशास्त्र में प्रत्यभिज्ञान के अनेक भेद बतलाये हैं, जिनमें चार मुख्य हैं–एकत्व प्रत्यभिज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, तद्विलक्षण प्रत्यभिज्ञान और तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान। किसी पुरुष को देखकर ''यह वही पुरुष है जिसे पहले देखा था'' ऐसा जोड़रूप ज्ञान होना एकत्व प्रत्यभिज्ञान है। वन में गवय नाम के पशु को देखकर ऐसा ज्ञान होना कि यह गवय मेरी गौ के समान है, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। भैंस को देखकर ''यह भैंस मेरी गौ से विलक्षण है'' ऐसा जोड़रूप ज्ञान होना तद्विलक्षण प्रत्यभिज्ञान है। निकट की वस्तु को देखकर पहले देखी हुई वस्तु के स्मरण पूर्वक ऐसा जोड़रूप ज्ञान होना कि इससे वह दूर है या ऊँची है या नीची है, इत्यादि ज्ञान को तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

चिन्ता का दूसरा नाम तर्क है। ''जहाँ अमुक चिह्न होता है, वहाँ उस चिह्न वाला भी होता है'' ऐसे ज्ञान को चिन्ता या तर्क कहते हैं। न्यायशास्त्र में व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं और साध्य के अभाव में साधन के अभाव को तथा साधन के सद्भाव में साध्य के सद्भाव को व्याप्ति कहते हैं। जैसे ''अग्नि के न होने पर धुआँ नहीं होता और धुआँ होने पर अग्नि अवश्य होती है'' यह व्याप्ति है और इसके जानने वाले ज्ञान को तर्क–प्रमाण कहते हैं। जिसको सिद्ध किया जाता है, उसे साध्य कहते हैं और जिसके द्वारा सिद्ध किया जाता है, उसे साधन कहते हैं। साधन से साध्य के ज्ञान को अभिनिबोध कहते हैं। इसका दूसरा नाम अनुमान है। जैसे, धुआँ उठता देखकर यह जान लेना कि वहाँ आग लगी है, क्योंकि धुआँ उठ रहा है, यह अभिनिबोध है। ये सब ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं।

आगे बतलाते हैं कि मतिज्ञान किससे उत्पन्न होता है–

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्॥१४॥

अर्थ–वह मतिज्ञान पाँच इन्द्रियों की और अनिन्द्रिय यानि मन की

सहायता से होता है।

विशेषार्थ—इन्द्र अर्थात् आत्मा। आत्मा के चिह्न विशेष को इन्द्रिय कहते हैं। आशय यह है कि जानने की शक्ति तो आत्मा में स्वभाव से ही है, किन्तु ज्ञानावरण कर्म का उदय रहते हुए वह बिना बाह्य सहायता के स्वयं नहीं जान सकता। अतः जिन अपने चिह्नों के द्वारा वह पदार्थों को जानता है, उन्हें इन्द्रिय कहते हैं। अथवा, आत्मा तो सूक्ष्म है, दिखायी नहीं देता। अतः जिन चिह्नों से आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है, उन्हें इन्द्रिय कहते हैं; क्योंकि इन्द्रियों की प्रवृत्ति से ही आत्मा के अस्तित्व का पता लगता है। अथवा, इन्द्र यानि नामकर्म। उसके द्वारा जो रची जाय उसे इन्द्रिय कहते हैं।

शंका—जो इन्द्रिय नहीं, उसे अनिन्द्रिय कहते हैं। तब मन को अनिन्द्रिय क्यों कहा ? क्योंकि वह भी तो इन्द्र अर्थात् आत्मा का चिह्न है, उसके द्वारा भी आत्मा जानता है ?

समाधान—यहाँ अनिन्द्रिय का मतलब 'इन्द्रिय नहीं' ऐसा मत लेना, किन्तु 'किंचित् इन्द्रिय' लेना। अर्थात्, मन किंचित् इन्द्रिय है, पूरी तरह से इन्द्रिय नहीं है। क्योंकि इन्द्रियों का तो स्थान भी निश्चित है और विषय भी निश्चित है। जैसे–चक्षु शरीर के अमुक भाग में ही पायी जाती है तथा वह रूप को ही जानती है। किन्तु मन का न तो कोई निश्चित स्थान ही है और न कोई निश्चित विषय ही है; क्योंकि जैन सिद्धान्त में ऐसा बतलाया है कि आत्मा के जिस प्रदेश में ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी स्थान के अंगुल के असंख्यातवें भाग आत्मप्रदेश उसी समय मनरूप हो जाते हैं तथा मन की प्रवृत्ति भी सर्वत्र देखी जाती है, इसलिए उसे अनिन्द्रिय कहा है। मन को अन्तःकरण भी कहते हैं; क्योंकि एक तो वह आँख वगैरह की तरह बाहर में दिखायी नहीं देता। दूसरे, मन का प्रधान काम गुण–दोष का विचार तथा स्मरण आदि है। उसमें वह इन्द्रियों की सहायता नहीं लेता। अतः उसे अन्तःकरण भी कहते हैं।

अब मतिज्ञान के भेद कहते हैं—

अवग्रहेहावायधारणाः॥१५॥

अर्थ—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा-ये चार मतिज्ञान के भेद हैं। इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होते ही जो सामान्य ग्रहण होता है, उसे दर्शन कहते हैं, दर्शन के अनन्तर ही जो पदार्थ का ग्रहण होता है, वह अवग्रह है। जैसे चक्षु से सफेद रूप को जानना अवग्रह है। अवग्रह से जाने हुए पदार्थ में विशेष जानने की इच्छा का होना ईहा है। जैसे यह सफेद रूप वाली वस्तु क्या है? यह तो बगुलों की पंक्ति सी प्रतीत होती है, यह ईहा है। विशेष चिह्नों के द्वारा यथार्थ वस्तु का निर्णय कर लेना अवाय है! जैसे पंखों के हिलने से तथा ऊपर नीचे होने से यह निर्णय कर लेना कि यह बगुलों की पंक्ति ही है, यह अवाय है। अवाय से जानी हुई वस्तु को कालान्तर में भी नहीं भूलना धारणा है।

आगे इन अवग्रह आदि ज्ञानों के अन्य भेद बतलाने के लिए पहले उनके विषय बतलाते हैं—

बहु-बहुविध-क्षिप्रानिःसृतानुक्त-ध्रुवाणां सेतराणाम्॥१६॥

अर्थ—बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव और इनके प्रतिपक्षी अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त, अध्रुव इन बारहों के अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं। अथवा अवग्रह आदि से इन बारहों का ज्ञान होता है। बहुत वस्तुओं के ग्रहण करने को बहुज्ञान कहते हैं। बहुत तरह की वस्तुओं के ग्रहण करने को बहुविधज्ञान कहते हैं। जैसे सेना या वन को एक समूह रूप में जानना बहुज्ञान है और हाथी, घोड़े आदि या आम, महुआ आदि भेदों को जानना बहुविधज्ञान है। शीघ्रता से जाती हुई वस्तु को जानना क्षिप्र ज्ञान है। जैसे तेज चलती हुई रेलगाड़ी को या उसमें बैठकर बाहर की वस्तुओं को जानना। वस्तु के एक भाग को देखकर पूरी वस्तु को जान लेना, अनिःसृत ज्ञान है। जैसे जल में डूबे हुए हाथी की सूंड को देखकर हाथी को जान लेना। बिना कहे अभिप्राय से ही जान लेना अनुक्त ज्ञान है। बहुत काल तक जैसा का तैसा निश्चल ज्ञान होना या पर्वत वगैरह स्थिर पदार्थ को जानना ध्रुव ज्ञान है। अल्प का अथवा एक का ज्ञान होना अल्प

ज्ञान है। एक प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान होना एकविध ज्ञान है। धीरे–धीरे चलते हुए घोड़े वगैरह को जानना अक्षिप्र ज्ञान है। सामने विद्यमान पूरी वस्तु को जानना निसृत ज्ञान है। कहने पर जानना उक्त ज्ञान है। चंचल बिजली वगैरह को जानना अध्रुव ज्ञान है। इस तरह बारह प्रकार का अवग्रह, बारह प्रकार की ईहा, बारह प्रकार का अवाय और बारह प्रकार का धारणा ज्ञान होता है। ये सब मिलकर ज्ञान के ४८ भेद होते हैं तथा इनमें से प्रत्येक ज्ञान पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा होता है। अतः ४८ को छह से गुणा करने पर मतिज्ञान के २८८ भेद होते हैं।

आगे बतलाते हैं कि ये बहु, बहुविध आदि किसके विशेषण हैं—

अर्थस्य॥१७॥

अर्थ—ये बहु, बहुविध आदि पदार्थ के विशेषण हैं। अर्थात् बहु यानि बहुत से पदार्थ, बहुविध यानि बहुत तरह के पदार्थ। इस तरह बारहों भेद पदार्थ के विशेषण हैं?

शंका—इसके कहने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि बहु, बहुविध तो पदार्थ ही हो सकता है, अन्य नहीं हो सकता, उसी के अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान होते हैं।

समाधान—आपकी शंका ठीक है; किन्तु मतावलम्बियों के मत का निराकरण करने के लिए 'अर्थस्य' सूत्र कहना पड़ा है। कुछ मतावलम्बी ऐसा मानते हैं कि इन्द्रियों का सम्बन्ध पदार्थ के साथ नहीं होता, किन्तु पदार्थ में रहने वाले रूप, रस आदि गुणों के साथ ही होता है। अतः इन्द्रियाँ गुणों को ही ग्रहण करती हैं, पदार्थ को नहीं। किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि वे लोग गुणों को अमूर्तिक मानते हैं और इन्द्रियों के साथ अमूर्तिक का सन्निकर्ष नहीं हो सकता।

शंका—तो फिर लोक में ऐसा क्यों हो जाता है–मैंने रूप देखा, मैंने गंध सूँघी ?

समाधान—इसका कारण यह है कि इन्द्रियों के साथ तो पदार्थ का

ही सम्बन्ध होता है, किन्तु चूँकि रूप आदि गुण पदार्थ में ही रहते हैं, अतः ऐसा कह दिया जाता है। वास्तव में तो इन्द्रियाँ पदार्थ को ही जानती हैं।

आगे बतलाते हैं कि सभी पदार्थों के अवग्रह आदि चारों ज्ञान होते हैं या उसमें कुछ अन्तर है—

व्यञ्जनस्यावग्रहः॥१८॥

अर्थ—व्यञ्जन अर्थात् अस्पष्ट शब्द वगैरह का केवल अवग्रह ही होता है, ईहा आदि नहीं होते।

विशेषार्थ—स्पष्ट पदार्थ के अवग्रह को अर्थावग्रह कहते हैं और अस्पष्ट पदार्थ के अवग्रह को व्यञ्जनावग्रह कहते हैं। जैसे श्रोत्र इन्द्रिय में एक हल्की-सी आवाज का मामूली-सा भान होकर रह गया। उसके बाद फिर कुछ भी नहीं जान पड़ा कि क्या था ? ऐसी अवस्था में केवल व्यञ्जनावग्रह ही होकर रह जाता है। किन्तु यदि धीरे धीरे वह आवाज स्पष्ट हो जाती है, तो व्यञ्जनावग्रह के बाद अर्थावग्रह और फिर ईहा आदि ज्ञान भी होते हैं। अतः अस्पष्ट पदार्थ का केवल अवग्रह ज्ञान ही होता है और स्पष्ट पदार्थ के चारों ज्ञान होते हैं।

आगे बतलाते हैं कि जैसे अर्थावग्रह, ईहा वगैरह ज्ञान सभी इन्द्रियों से होते हैं, वैसे व्यञ्जनावग्रह सभी इन्द्रियों से नहीं होता—

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्॥१९॥

अर्थ—चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता; क्योंकि चक्षु और मन पदार्थ को दूर से ही जानते हैं, उससे भिड़ कर नहीं जानते। जैसे चक्षु आँख में लगे अंजन को नहीं देख सकती, किन्तु दूरवर्ती को देख सकती है। इसी तरह मन भी जिन पदार्थों का विचार करता है, वे उससे दूर ही होते हैं। इसी से जैन सिद्धान्त में चक्षु और मन को अप्राप्यकारी कहा है। शेष चारों इन्द्रियाँ अपने विषय को उससे भिड़ कर ही जानती हैं। अतः व्यञ्जनावग्रह चार ही इन्द्रियों से होता है। इस तरह बहु, बहुविध आदि बारह विषयों की अपेक्षा व्यंजनावग्रह के ४८ भेद होते हैं। तथा पहले

गिनाये हुए २८८ भेदों में इन ४८ भेदों को मिला देने से मतिज्ञान के ३३६ भेद होते हैं। इस तरह मतिज्ञान का स्वरूप कहा।

अब श्रुतज्ञान का स्वरूप कहते हैं—

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेक-द्वादशभेदम्॥२०॥

अर्थ—श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। उसके दो भेद हैं। उनमें से एक भेद के अनेक भेद हैं और दूसरे भेद के बारह भेद हैं।

विशेषार्थ—पहले मतिज्ञान होता है। उसके बाद श्रुतज्ञान होता है। बिना मतिज्ञान हुए श्रुतज्ञान नहीं होता। यह बात दूसरी है कि श्रुतज्ञान होने के बाद फिर श्रुतज्ञान हो, किन्तु पहला श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही होता है। उस श्रुतज्ञान के दो भेद हैं– अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंगबाह्य के तो अनेक भेद हैं और अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, ज्ञातृधर्मकथा अंग, उपासकाध्ययन अंग, अन्तःकृतदशांग, अनुत्तरौपपादिक अंग, प्रश्नव्याकरण अंग, विपाकसूत्र, दृष्टिप्रवाद अंग।

भगवान् तीर्थंकर ने केवलज्ञान के द्वारा सब पदार्थों को जानकर दिव्यध्वनि के द्वारा उपदेश दिया। उनके साक्षात् शिष्य गणधर ने उस उपदेश को अपनी स्मृति में रखकर बारह अंगों में संकलित कर दिया। यह अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञान कहा जाता है। किन्तु ये अंग ग्रन्थ महान् और गम्भीर होते हैं। अतः आचार्यों ने अल्पबुद्धि शिष्यों पर दया करके उनके आधार पर जो ग्रंथ रचे, वे अंगबाह्य कहलाते हैं। ये सब अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के भेद हैं। श्रुतज्ञान में उसी की मुख्यता है।

परोक्ष प्रमाण का कथन समाप्त हुआ। अब प्रत्यक्ष प्रमाण का वर्णन करते हुए सबसे प्रथम अवधिज्ञान का कथन करते हैं। अवधिज्ञान के दो भेद हैं—भवप्रत्यय और क्षयोपशमनिमित्त।

उनमें से प्रथम भवप्रत्यय अवधिज्ञान के स्वामी बतलाते हैं—

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्॥२१॥

अर्थ—भवप्रत्थय अवधिज्ञान देवों और नारकियों के होता है।

विशेषार्थ—अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरण कर्म और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होता है और क्षयोपशम व्रत, नियम वगैरह के आचरण से होता है। किन्तु देवों और नारकियों में व्रत, नियम वगैरह नहीं होते। अतः उनमें देव और नारकी का भव पाना ही क्षयोपशम के होने में कारण होता है। इसी से उनमें होने वाला अवधिज्ञान भवप्रत्यय (जिसके होने में भव ही कारण है) कहा जाता है। अर्थात् जो देव और नारकियों में जन्म लेता है, उसके अवधि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हो ही जाता है। अतः वहाँ क्षयोपशम के होने में भव ही मुख्य कारण है।

इतना विशेष है कि सम्यग्दृष्टियों के अवधिज्ञान होता है और मिथ्यादृष्टियों के कुअवधि ज्ञान होता है।

आगे क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान किसके होता है, यह बतलाते हैं—

क्षयोपशम-निमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्॥२२॥

अर्थ— क्षयोपशम निमित्त नामक अवधिज्ञान छह प्रकार का होता है और वह मनुष्य और तिर्यञ्चों के होता है।

विशेषार्थ— अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम जिसमें निमित्त है, उसे क्षयोपशम निमित्त अवधिज्ञान कहते हैं। यद्यपि सभी अवधिज्ञान क्षयोपशम के निमित्त से होते हैं, फिर भी इस अवधिज्ञान का नाम क्षयोपशम निमित्त इसलिए रखा गया कि इसके होने में क्षयोपशम ही प्रधान कारण है, भव नहीं। इसी से इसे गुणप्रत्यय भी कहते हैं।

इसके छह भेद हैं—अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित। जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीव के साथ-साथ जाता है, उसे अनुगामी कहते हैं। इसके तीन भेद हैं— क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी और उभयानुगामी। जिस जीव के जिस क्षेत्र में अवधिज्ञान प्रकट हुआ वह जीव यदि दूसरे क्षेत्र में जाये तो उसके साथ जाये और छूटे नहीं, उसे क्षेत्रानुगामी कहते हैं। जो अवधिज्ञान परलोक में भी अपने स्वामी जीव के

साथ जाता है, वह भवानुगामी है। जो अवधिज्ञान अन्य क्षेत्र में भी साथ जाता है और अन्य भव में भी साथ जाता है, वह उभयानुगामी है। जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीव के साथ नहीं जाता, वह अननुगामी है। इसके भी तीन भेद हैं जो पूर्वोक्त तीन भेदों से उल्टे हैं। विशुद्ध परिणामों की वृद्धि होने से जो अवधिज्ञान बढ़ता ही जाता है, उसे वर्धमान कहते हैं। संक्लेश परिणामों की वृद्धि होने से जो अवधिज्ञान घटता ही जाता है, उसे हीयमान कहते हैं। जो अवधिज्ञान जिस मर्यादा को लेकर उत्पन्न हुआ हो, उसी मर्यादा में रहे, न घटे और न बढ़े, उसे अवस्थित कहते हैं और जो घटे-बढ़े, उसे अनवस्थित कहते हैं।

अब मनःपर्यय ज्ञान का कथन करते हैं—

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः॥२३॥

अर्थ— मनःपर्ययज्ञान के दो भेद हैं-ऋजुमति और विपुलमति। दूसरे के मन में सरल रूप में स्थित रूपी पदार्थ को जो ज्ञान प्रत्यक्ष जानता है, उसे ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान कहते हैं और दूसरे के मन में सरल अथवा जटिल रूप में स्थित रूपी पदार्थ को जो ज्ञान प्रत्यक्ष जानता है, उसे विपुलमति मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

विशेषार्थ—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, सभी के मन में स्थित विचार को मनःपर्यय ज्ञान जानता है, किन्तु वह विचार रूपी पदार्थ अथवा संसारी जीव के विषय में होना चाहिए। अमूर्तिक द्रव्यों और मुक्तात्माओं के विषय में जो चिन्तन किया गया होगा, उसे मनःपर्यय नहीं जान सकता। तथा उन्हीं जीवों के मन की बात जान सकता है, जो मनुष्य लोक की सीमा के अन्दर हों। इतना विशेष है कि मनुष्यलोक तो गोलाकार है, किन्तु मनःपर्यय ज्ञान का क्षेत्र गोलाकार न होकर पैंतालीस लाख योजन लम्बा चौड़ा चौकोर है। उसके दो भेदों में से ऋजुमति तो केवल उसी वस्तु को जान सकता है, जिसके बारे में स्पष्ट विचार किया गया हो अथवा मन, वचन और काय की चेष्टा के द्वारा जिसे स्पष्ट कर दिया गया हो, किन्तु विपुलमति मनःपर्यय चिन्तित, अचिन्तित और अर्ध-चिन्तित को भी जान

लेता है।

अब मन:पर्यय के दोनों भेदों में विशेषता बतलाते हैं—

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः॥२४॥

अर्थ—ऋजुमति और विपुलमति में विशुद्धि और अप्रतिपात की अपेक्षा से विशेषता है। मनःपर्यय ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से जो आत्मा में उज्ज्वलता होती है, वह विशुद्धि है और संयम परिणाम की वृद्धि होने से गिरावट का न होना अप्रतिपात है। ऋजुमति से विपुलमति अधिक विशुद्ध होता है। तथा ऋजुमति होकर छूट भी जाता है, किन्तु विपुलमति वाले का चरित्र वर्धमान ही होता है, अतः वह केवलज्ञान उत्पन्न होने तक बराबर बना रहता है।

आगे अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान में विशेषता बतलाते हैं—

विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्योऽवधि-मनःपर्यययोः॥२५॥

अर्थ—अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा से अन्तर है।

विशेषार्थ—इसका खुलासा इस प्रकार है—अवधिज्ञान जिस रूपी द्रव्य को जानता है, उसके अनन्तवें भाग सूक्ष्म रूपी द्रव्य को मनःपर्यय ज्ञान जानता है। अतः अवधिज्ञान से मनःपर्यय ज्ञान विशुद्ध है। अवधिज्ञान की उत्पत्ति का क्षेत्र समस्त त्रसनाड़ी है, किन्तु मनःपर्यय ज्ञान मनुष्य लोक में ही उत्पन्न होता है। अवधिज्ञान के विषय का क्षेत्र समस्त लोक है, किन्तु मनःपर्यय ज्ञान के विषय का क्षेत्र पैंतालीस लाख योजन विस्तार प्रमाण ही है। इतने क्षेत्र में स्थित अपने योग्य विषय को ही ये ज्ञान जानते हैं। तथा अवधिज्ञान चारों गतियों के सैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के होता है, किन्तु मनःपर्यय ज्ञान कर्मभूमि के गर्भज मनुष्यों के ही होता है, उनमें भी संयमियों के ही होता है। संयमियों में भी वर्धमान चरित्र वालों के ही होता है, हीयमान चरित्र वालों के नहीं होता। वर्धमान चरित्र वालों में भी सात

प्रकार की ऋद्धियों में से एक दो ऋद्धियों के धारी मुनियों के ही होता है। और ऋद्धिधारियों में भी किसी के ही होता है, सभी के नहीं होता। विषय की अपेक्षा भेद आगे सूत्रकार स्वयं कहेंगे। इस तरह अवधि और मनःपर्यय ज्ञान में विशुद्धि वगैरह की अपेक्षा भेद जानना चाहिए।

अब क्रमानुसार तो केवलज्ञान का लक्षण कहना चाहिए, किन्तु केवलज्ञान का स्वरूप आगे दसवें अध्याय में कहेंगे। अतः ज्ञानों का विषय बतलाते हुए प्रथम मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय बतलाते हैं—

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्व-पर्यायेषु ॥२६॥

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के विषय का नियम द्रव्यों की कुछ पर्यायों में हैं। अर्थात् ये दोनों ज्ञान द्रव्यों की कुछ पर्यायों को जानते हैं, सब पर्यायों को नहीं जानते।

विशेषार्थ—इस सूत्र में 'विषय' शब्द नहीं है, अतः 'विशुद्धि क्षेत्र' आदि सूत्र से 'विषय' शब्द ले लेना चाहिए। तथा 'द्रव्येषु' शब्द बहुवचन का रूप हैं इसलिए जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल सभी द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिए। इन द्रव्यों में से एक-एक द्रव्य की अनन्त पर्यायें होती हैं। उनमें से कुछ पर्यायों को ही मति, श्रुत ज्ञान जानते हैं।

शंका—धर्म, अधर्म आदि द्रव्य तो अमूर्तिक हैं। वे मतिज्ञान के विषय नहीं हो सकते। अतः सब द्रव्यों को मतिज्ञान जानता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है ?

समाधान— यह आपत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि मन की सहायता से होने वाला मतिज्ञान अमूर्तिक द्रव्यों में भी प्रवृत्ति कर सकता है और मनपूर्वक अवग्रह आदि ज्ञान होने पर पीछे श्रुतज्ञान भी अपने योग्य पर्यायों को जान लेता है। अतः कोई दोष नहीं है।

अब अवधिज्ञान का विषय बतलाते हैं—

रूपिष्ववधेः॥२७॥

अर्थ—अवधिज्ञान के विषय का नियम रूपी पदार्थों में है। यहाँ पूर्व

सूत्र से 'असर्वपर्यायेषु' पद ले लेना चाहिए। तथा 'रूपी' शब्द से पुद्‌गल द्रव्य लेना चाहिए; क्योंकि एक पुद्‌गल द्रव्य ही वास्तव में रूपी है। अतः अवधिज्ञान पुद्‌गल द्रव्य की कुछ पर्यायों को जानता है।

इतना विशेष है कि पुद्‌गल द्रव्य से सम्बद्ध जीव द्रव्य की भी कुछ पर्यायों को जानता है; क्योंकि संसारी जीव कर्मों से बँधा होने से मूर्तिक जैसा ही हो रहा है। किन्तु मुक्त जीव को तथा अन्य अमूर्तिक द्रव्यों को अवधिज्ञान नहीं जानता। वह तो अपने योग्य सूक्ष्म अथवा स्थूल पुद्‌गल द्रव्य की त्रिकालवर्ती कुछ पर्यायों को ही जानता है।

आगे मनःपर्यय ज्ञान का विषय बतलाते हैं—

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य॥२८॥

अर्थ— सर्वावधिज्ञान जिस रूपी द्रव्य को जानता है, उसके अनन्तवें भाग को मनःपर्यय ज्ञान जानता है। सारांश यह कि अवधिज्ञान से मनःपर्यय ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म द्रव्य को जानने की शक्ति रखता है।

शंका— सर्वावधि ज्ञान का विषय तो परमाणु बतलाया है और उसके अनन्तवें भाग को मनःपर्यय जानता है ऐसा कहा है। सो परमाणु के अनन्त भाग कैसे हो सकते हैं ?

समाधान— एक परमाणु में स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण के अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद (शक्ति के अंश) पाये जाते हैं। अतः उनकी अपेक्षा से परमाणु का भी अनन्तवाँ भाग होना सम्भव है।

अब केवलज्ञान का विषय बतलाते हैं—

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य॥२९॥

अर्थ—केवलज्ञान के विषय का नियम सब द्रव्यों की सब पर्यायों में है। आशय यह है कि एक-एक द्रव्य की त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायें होती हैं। सो सब द्रव्यों को और सब द्रव्यों की त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायों को एक साथ एक समय में केवलज्ञान प्रत्यक्ष जानता है।

इस प्रकार ज्ञानों का विषय कहा।

अब यह बतलाते हैं कि एक आत्मा में एक साथ कितने ज्ञान रह सकते हैं—

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः॥३०॥

अर्थ—एक आत्मा में एक साथ एक से लेकर चार ज्ञान तक विभाग कर लेना चाहिए। अर्थात् एक हो तो केवलज्ञान होता है, दो हों तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान होते हैं। तीन हों तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होते हैं या मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होते हैं। चार हों तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान होते हैं। इससे अधिक नहीं होते; क्योंकि केवलज्ञान क्षायिक है समस्त ज्ञानावरण कर्म का क्षय होने से होता है। इसी से वह अकेला होता है, उसके साथ अन्य क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रह सकते।

आगे बतलाते हैं कि आदि के तीन ज्ञान मिथ्या भी होते हैं—

मति-श्रुतावधयो विपर्ययश्च॥३१॥

अर्थ—विपर्यय का अर्थ विपरीत यानि उल्टा होता है। यहाँ सम्यग्ज्ञान का अधिकार है। अतः विपर्यय से सम्यग्ज्ञान का उल्टा मिथ्याज्ञान लेना चाहिए। तथा 'च' शब्द समुच्चयवाची है। अतः मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान सच्चे भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं—ऐसा सूत्र का अर्थ जानना चाहिए।

शंका—ये तीनों ज्ञान मिथ्या क्यों होते हैं?

समाधान—ये तीनों ज्ञान मिथ्यादृष्टि के भी होते हैं। अतः जैसे कड़वी तूम्बी में रखा हुआ दूध कड़वा हो जाता है, वैसे ही जिस आत्मा के मिथ्यादर्शन का उदय है, उस आत्मा के ज्ञान मिथ्या होते हैं।

इस पर शंकाकार का कहना है कि जैसे सम्यग्दृष्टि मतिज्ञान के द्वारा रूप रस वगैरह को जानता है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि कुमति ज्ञान के द्वारा जानता है। जैसे सम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानकर दूसरों को उपदेश देता है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि कुश्रुतज्ञान के द्वारा जानकर दूसरों को उपदेश देता है। तथा जैसे सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञान के द्वारा पदार्थों का

निश्चय करता है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि कु-अवधि (विभंग ज्ञान) के द्वारा पदार्थों का निश्चय करता है। इस तरह जब मिथ्यादृष्टि के रूप आदि विषयों को ग्रहण करने में कोई विपरीतता नहीं देखी जाती, तब उसके ज्ञानों को क्यों मिथ्या कहा जाता है ?

इस शंका का निराकरण करने के लिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं–

सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्॥३२॥

अर्थ– सत् अर्थात् विद्यमान और असत् अर्थात् अविद्यमान। अथवा सत् यानि अच्छा और असत् यानि बुरा। मिथ्यादृष्टि सत् और असत् के भेद को नहीं जानता और उन्मत्त पुरुष की तरह अपनी रुचि के अनुसार वस्तु को ग्रहण करता है। जैसे–मदिरा पीकर उन्मत्त हुआ मनुष्य कभी माता को पत्नी कहता है और कभी पत्नी को माता कहता है। कभी-कभी पत्नी को पत्नी और माता को माता भी कह बैठता है, फिर भी वह ठीक समझ कर ऐसा नहीं कहता। इसी तरह मिथ्यादृष्टि भी घट, पट आदि पदार्थों को घट, पट आदि ही जानता है, किन्तु मिथ्यात्व का उदय होने से यथार्थ वस्तुस्वरूप का ज्ञान उसे नहीं है। इसी से उसका ज्ञान मिथ्या माना जाता है।

इस तरह प्रमाण का कथन करके अब नय के भेद बतलाते हैं–

नैगम-संग्रह-व्यवहारर्जुसूत्र-शब्द-समभिरूढैवंभूता नया:॥३३॥

अर्थ–नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये सात नय हैं।

विशेषार्थ–इन सात नयों का स्वरूप इस प्रकार है–एक द्रव्य अपनी भूत, भविष्यत् और वर्तमान पर्यायों से जुदा नहीं है, बल्कि त्रिकालवर्ती पर्यायों के समूह का नाम ही द्रव्य है। अत: जो भूत और भविष्यत् पर्यायों में वर्तमान का संकल्प करता है या वर्तमान में जो पर्याय पूर्ण नहीं हुई, उसे पूर्ण मानता है; उस ज्ञान को तथा वचन को नैगमनय कहते हैं। जैसे एक मनुष्य कुल्हाड़ा लेकर वन की ओर जाता है। उसे देखकर कोई पूछता है

कि आप किसलिए वन जा रहे हैं ? तो वह उत्तर देता है–मैं इन्द्र लेने के लिए जा रहा हूँ। किन्तु वास्तव में वह लकड़ी लेने जा रहा है; परन्तु उसका संकल्प उस लकड़ी से इन्द्र की प्रतिमा बनाने का है। अतः वह अपने संकल्प में ही इन्द्र का व्यवहार करता है। इसी तरह एक आदमी लकड़ी पानी वगैरह रख रहा है। उससे कोई पूछता है–आप क्या कर रहे हैं ? तो वह उत्तर देता है–मैं भात पका रहा हूँ। किन्तु उस समय वह भात पकाने की तैयारी कर रहा है। पर चूँकि उसका संकल्प भात पकाने का है, अतः जो पर्याय अभी निष्पन्न नहीं हुई है, उसे वह निष्पन्न मानकर व्यवहार करता है। यह नैगमनय है॥१॥

अपनी-अपनी जाति के अनुसार वस्तुओं का या उनकी पर्यायों का एकरूप से संग्रह करने वाले ज्ञान को और वचन को संग्रह नय कहते हैं। जैसे–'द्रव्य' कहने से सब द्रव्यों का ग्रहण होता है, 'जीव' कहने से सब जीवों का ग्रहण होता है। 'पुद्गल' कहने से सब पुद्गलों का ग्रहण होता है॥२॥

संग्रह नय से ग्रहण किये हुए पदार्थों का विधिपूर्वक भेद करना व्यवहार नय है। जैसे 'द्रव्य' कहने से काम नहीं चल सकता। अतः व्यवहार नय की आवश्यकता होती है। व्यवहार से द्रव्य के दो भेद हैं– जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। जीव और अजीव कहने से भी काम नहीं चलता। अतः जीव के दो भेद हैं–संसारी और मुक्त। संसारी के भी देव, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि भेद हैं। अजीव के पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये पाँच भेद हैं। पुद्गल के दो भेद हैं–अणु और स्कन्ध। इस प्रकार व्यवहार नय तब तक भेद करता जाता है, जब तक भेद हो सकते हैं॥३॥

भूत और भावि पर्यायों को छोड़कर जो वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण करता है, उस ज्ञान और वचन को ऋजुसूत्र नय कहते हैं। वस्तु हर समय परिणमन करती रहती है। इसलिए वास्तव में तो एक पर्याय एक समय तक ही रहती है। उस एक समयवर्ती पर्याय को अर्थ पर्याय कहते हैं। वह अर्थ पर्याय ऋजुसूत्र नय का विषय है। किन्तु व्यवहार में एक स्थूल पर्याय जब

तक रहती है, तब तक लोग उसे वर्तमान पर्याय कहते हैं। जैसे मनुष्य पर्याय अपनी आयुपर्यन्त रहती है। ऐसी स्थूल पर्याय को ग्रहण करने वाला ज्ञान और वचन स्थूल ऋजुसूत्र नय कहा जाता है॥४॥

लिंग, संख्या, साधन आदि के व्यभिचार दोष को दूर करने वाले ज्ञान और वचन को शब्दनय कहते हैं। भिन्न-भिन्न लिंग वाले शब्दों का एक ही वाच्य मानना लिंग व्यभिचार है। जैसे–तारका और स्वाति का, अवगम और विद्या का, वीणा और वाद्य का एक ही वाच्य मानना। विभिन्न वचनों में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का एक ही वाच्य मानना वचन व्यभिचार है। जैसे–आपः और जल का तथा दाराः और स्त्री का एक ही वाच्य मानना। इसी तरह मध्यम पुरुष का कथन उत्तम पुरुष की क्रिया के द्वारा करना पुरुष व्यभिचार है। ''होने वाला काम हो गया'' ऐसा कहना काल व्यभिचार है, क्योंकि ''हो गया'' तो भूतकाल को कहता है और ''होने वाला'' आगामी काल को कहता है। इस तरह का व्यभिचार शब्द नय की दृष्टि में उचित नहीं है। जैसा शब्द कहता है, वैसा ही अर्थ में भेद मानना इस नय का विषय है। अर्थात् यह नय शब्द में लिंगभेद, वचनभेद, कारकभेद, पुरुषभेद और कालभेद वगैरह के होने से उसके अर्थ में भेद का होना मानता है॥५॥

लिंग आदि का भेद न होने पर भी शब्दभेद से अर्थ का भेद मानने वाला समभिरूढ़ नय है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर ये तीनों शब्द स्वर्ग के स्वामी इन्द्र के वाचक हैं और एक ही लिंग के हैं। किन्तु ये तीनों शब्द उस इन्द्र के भिन्नभिन्न धर्मों को कहते हैं, ऐसा इस नय का मन्तव्य है। वह आनन्द करता है इसलिए इन्द्र कहा जाता है, शक्तिशाली होने से शक्र और नगरों को उजाड़ने वाला होने से पुरन्दर कहा जाता है। इस तरह जो नय शब्दभेद से अर्थभेद मानता है, वह समभिरूढ़नय है॥६॥

जिस शब्द का जिस क्रियारूप अर्थ हो, उस क्रियारूप परिणमन में पदार्थ को ग्रहण करने वाला वचन और ज्ञान एवंभूत नय है। जैसे–इन्द्र शब्द का अर्थ आनन्द करना है। अतः स्वर्ग का स्वामी जिस समय

आनन्दोपभोग करता हो, उसी काल में उसे इन्द्र कहना, जब पूजन करता हो तो इन्द्र नहीं कहना, एवंभूत नय है॥७॥

इस तरह यह सात नयों का स्वरूप है। इनका विषय उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्म होता जाता है।

संक्षेप में नय के दो भेद हैं– द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। जो द्रव्य की मुख्यता से वस्तु को विषय करता है, वह द्रव्यार्थिक नय है, नैगम, संग्रह और व्यवहार ये द्रव्यार्थिक नय हैं और शेष चार पर्यायार्थिक नय हैं। विस्तार से तो नय के बहुत भेद हैं– क्योंकि प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म पाये जाते हैं। और एक एक धर्म को एक एक नय विषय करता है। किन्तु यदि कोई एक नय को ही पकड़ कर बैठ जाये और उसी को सत्य समझ ले तो वह दुर्नय कहलायेगा। आवश्यकतानुसार एक को मुख्य और शेष को गौण करते हुए सब नयों की सापेक्षता से ही वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जा सकता है॥३३॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे प्रथमोऽध्यायः॥

अथ द्वितीयोऽध्याय:

अब सम्यग्दर्शन के विषय रूप से कहे गये सात तत्त्वों में से जीव तत्त्व का वर्णन करते हैं—

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥

अर्थ—औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक ये जीव के पाँच भाव हैं।

विशेषार्थ—जैसे मैले पानी में निर्मली मिला देने से मैल नीचे बैठ जाता है और जल स्वच्छ हो जाता है। वैसे ही कारण के मिलने पर प्रतिपक्षी कर्म की शक्ति के दब जाने से आत्मा में निर्मलता का होना औपशमिक भाव है। ऊपर वाले दृष्टान्त में उस स्वच्छ जल को, जिसके नीचे मैल बैठ गया है, किसी साफ बर्तन में निकाल लेने पर उसके नीचे का मैल दूर हो जाता है और केवल निर्मल जल रह जाता है। वैसे ही प्रतिपक्षी कर्म का बिलकुल अभाव होने से आत्मा में जो निर्मलता होती है, वह क्षायिक भाव है। जैसे—उसी पानी को दूसरे बर्तन में निकालते समय कुछ मैल यदि साथ में चला आये और आकर जल के नीचे बैठ जाये तो उस समय जल की जैसी स्थिति होती है, वैसे ही प्रतिपक्षी कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय और आगे उदय में आने वाले निषेकों का सत्ता में उपशम होने से तथा देशघाती स्पर्द्धकों का उदय होते हुए जो भाव होता है, उसे क्षायौपशमिक भाव कहते हैं। उसी का नाम मिश्र भाव है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से कर्म का फल देना उदय है और उदय से जो भाव होता है, उसे औदयिक भाव कहते हैं और जो भाव कर्म की अपेक्षा के बिना स्वभाव से ही होता है, वह पारिणामिक भाव है। इस तरह ये जीव के पाँच भाव होते हैं।

अब इन भावों के भेद कहते हैं—

द्विनवाष्टादशैक-विंशति-त्रिभेदा यथाक्रमम्॥२॥

अर्थ—औपशमिक भाव के दो भेद हैं। क्षायिक भाव के नौ भेद हैं। मिश्र भाव के अठारह भेद हैं। औदयिक भाव के इक्कीस भेद हैं और पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं।

अब औपशमिक भाव के दो भेद कहते हैं

सम्यक्त्व-चारित्रे॥३॥

अर्थ—औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ये दो औपशमिक भाव के भेद हैं। अनन्तानुबन्धी, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन सात कर्म प्रकृतियों के उपशम से जो सम्यक्त्व होता है, उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं तथा समस्त मोहनीय कर्म के उपशम से औपशमिक चारित्र होता है।

विशेषार्थ—उपशम सम्यक्त्व के दो भेद हैं–प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से छूटने पर जो उपशम सम्यक्त्व होता है, उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं और उपशम श्रेणी चढ़ते समय क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से जो उपशम सम्यक्त्व होता है, उसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व होने से पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में पाँच लब्धियाँ होती हैं–क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्य लब्धि और करण लब्धि। इनमें से प्रारम्भ की चार लब्धियाँ तो भव्य और अभव्य दोनों के हो जाती हैं, किन्तु करण लब्धि भव्य के ही होती है तथा जब सम्यक्त्व होना होता है तभी होती है। जब अशुभ कर्म प्रतिसमय अनन्त गुणी कम कम शक्ति को लिए हुए उदय में आते हैं अर्थात् पहले समय में जितना फल दिया, दूसरे समय में उससे अनन्त गुणा कम, तीसरे समय में उससे अनन्त गुणा कम, इस तरह प्रति समय अनन्त गुणा घटता हुआ उदय जिस काल में होता है, तब क्षयोपशम लब्धि होती है। क्षयोपशम लब्धि के प्रभाव से धर्मानुराग रूप शुभ परिणामों का होना विशुद्धि लब्धि

है। आचार्य वगैरह के द्वारा उपदेश का लाभ होना देशना लब्धि है। किन्तु जहाँ उपदेश देने वाला न हो, जैसे चौथे आदि नरकों में, वहाँ पूर्वभव में सुने हुए उपदेश की धारणा के बल पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। इन तीनों लब्धि वाला जीव प्रतिसमय अधिक-अधिक विशुद्ध होता हुआ आयु कर्म के सिवा शेष कर्मों की स्थिति जब अन्तः कोटाकोटि सागर प्रमाण बांधता है और विशुद्ध परिणामों के कारण वह बंधी हुई स्थिति संख्यात हजार सागर कम हो जाती है, उसे प्रायोग्य लब्धि कहते हैं। पाँचवीं करण लब्धि में अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीन तरह के परिणाम कषायों की मन्दता को लिए हुए क्रमवार होते हैं। इनमें से अनिवृत्ति करण के अन्तिम समय में पूर्वोक्त सात प्रकृतियों का उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। समस्त मोहनीय का उपशम होने से ग्यारहवें गुणस्थान में औपशमिक चारित्र होता है।

अब क्षायिक भाव के नौ भेद कहते हैं—

ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणि च॥४॥

अर्थ—केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिकवीर्य तथा 'च' शब्द से क्षायिक-सम्यक्त्व और क्षायिकचारित्र, ये नौ क्षायिक भाव हैं।

विशेषार्थ—ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के अत्यन्त क्षय होने से केवलज्ञान और केवलदर्शन होते हैं। दानान्तराय कर्म का अत्यन्त क्षय होने से दिव्यध्वनि वगैरह के द्वारा अनंत प्राणियों का उपकार करने वाला क्षायिक अभय दान होता है। लाभान्तराय का अत्यन्त क्षय होने से, भोजन न करने वाले केवली भगवान् के शरीर को बल देने वाले जो परम शुभ सूक्ष्म नोकर्म पुद्गल प्रतिसमय केवली के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, जिनसे केवली का औदारिक शरीर बिना भोजन के कुछ कम एक पूर्व कोटी वर्ष तक बना रहता है, वह क्षायिक लाभ है। भोगान्तराय का अत्यन्त क्षय होने से सुगन्धित पुष्पों की वर्षा, मन्द सुगन्ध पवन का बहना आदि क्षायिक भोग है। उपभोगान्तराय कर्म का अत्यन्त क्षय होने से सिंहासन, तीन छत्र,

भामण्डल, आदि का होना क्षायिक उपभोग है। वीर्यान्तराय कर्म का अत्यन्त क्षय होने से क्षायिकवीर्य होता है। मोहनीय कर्म की ऊपर कहीं सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है और समस्त मोहनीय कर्म के अभाव से क्षायिक चारित्र प्रकट होता है।

यहाँ इतना विशेष जानना कि अरहन्त अवस्था में ये क्षायिक दान वगैरह शरीर नामकर्म और तीर्थंकर नामकर्म के रहते हुए होते हैं। सिद्धों में ये भाव इस रूप में नहीं होते, क्योंकि सिद्धों में किसी कर्म का सद्भाव नहीं है। फिर भी जब सिद्धों के सब कर्मों का क्षय हो गया है तो कर्मों के क्षय से होने वाले क्षायिक दान आदि भाव होने चाहिए। इसलिये अनन्तवीर्य और बाधा रहित अनन्त सुख के रूप में ही ये भाव सिद्धों में पाये जाते हैं।

अब क्षायौपशमिक भाव के अठारह भेद बतलाते हैं—

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्व-चारित्र-संयमासंयमाश्च॥५॥

अर्थ—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ये चार ज्ञान; कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये तीन (३) अज्ञान; चक्षु इन्द्रिय के द्वारा पदार्थों का सामान्य ग्रहण रूप चक्षुदर्शन, शेष इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों का सामान्य ग्रहण रूप अचक्षुदर्शन और अवधिज्ञान से पहले होने वाला सामान्य ग्रहण रूप अवधिदर्शन ये तीन (३) दर्शन; अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से होने वाली दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच (५) लब्धियाँ, क्षायोपशमिक; (१) सम्यक्त्व; (१) सराग चारित्र और (१) संयमासंयम अर्थात् देश व्रत- ये अठारह भाव क्षायोपशमिक हैं; क्योंकि ये भाव अपनी प्रतिपक्षी कर्म के क्षयोपशम से होते हैं।

अब औदयिक भाव के इक्कीस भेद कहते हैं—

गति-कषाय-लिङ्ग-मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयता-सिद्ध-लेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः॥६॥

अर्थ—चार गति, चार कषायें, तीन लिंग अर्थात् वेद, एक मिथ्या

दर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्धत्व और छह लेश्याएँ–ये औदयिक भाव के इक्कीस भेद हैं।

विशेषार्थ—चार गतियाँ–नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देव गति, ये गति नामकर्म के उदय से होती हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाएँ चारित्र मोहनीय के भेद कषाय–वेदनीय के उदय से होती हैं। लिंग के दो भेद हैं– द्रव्यलिंग और भावलिंग। शरीर में पाये जाने वाले स्त्री और पुरुष के चिह्न आदि को द्रव्यलिंग कहते हैं। द्रव्यलिंग नामकर्म के उदय से होता है। अतः उसका यहाँ अधिकार नहीं है; क्योंकि यहाँ आत्मा के भावों का कथन है। अतः स्त्री–पुरुष और दोनों से रमण करने की अभिलाषा रूप जो भाव वेद है, उसी का यहाँ अधिकार है। सो चारित्रमोहनीय का भेद नो–कषाय है और नो–कषाय के भेद स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद कर्म के उदय से स्त्रीलिंग, पुरुषलिंग और नपुंसकलिंग होते हैं। दर्शनमोह के उदय से तत्त्वार्थ का श्रद्धान न करने रूप मिथ्यादर्शन भाव होता है। ज्ञानावरण कर्म के उदय से न जानने रूप अज्ञान भाव होता है। चारित्रमोह के उदय से प्राणियों की हिंसा और इन्द्रियों के विषयों से विरक्त न होने रूप असंयत भाव होता है। कर्म मात्र का उदय होने से सिद्ध पर्याय की प्राप्ति न होने रूप असिद्धत्व भाव होता है।

लेश्या दो प्रकार की होती है–द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। जीव के भावों का अधिकार होने से यहाँ द्रव्य लेश्या का अधिकार नहीं है। कषायों के उदय से रंजित मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को भाव लेश्या कहते हैं। उसके छह भेद हैं–कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म तथा शुक्ल। सो आत्मा के भावों में अशुद्धता की कमी बेशी को लेकर कृष्ण आदि शब्दों का उपचार किया है।

शंका—आगम में उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोग–केवली नाम के ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानों में लेश्या कही है, किन्तु इन गुणस्थानों में कषाय का उदय नहीं है। तब वहाँ लेश्या औदयिक कैसे है ? अथवा वहाँ लेश्या ही कैसे संभव है ? क्योंकि कषाय से रंजित योग

की प्रवृत्ति का नाम लेश्या है ?

समाधान—इन गुणस्थानों में कषाय का उदय न होने पर भी पूर्वभावप्रज्ञापन-नय की अपेक्षा से लेश्या कही है। अर्थात् पहले यही योग कषाय से रंजित था, तब लेश्या कही थी। अब इन गुणस्थानों में कषाय का उदय तो रहा नहीं, परन्तु योग वही है, जो पहले कषाय के रंग में रंगा था। अतः उपचार से लेश्या कही है। अयोगकेवली नाम के चौदहवें गुणस्थान में योग का भी अभाव हो जाने से लेश्या नहीं बतलायी है।

शंका—औदयिक भाव तो और भी अनेक हैं। जैसे अज्ञान औदयिक है, वैसे ही अदर्शन भी औदयिक है। निद्रा-निद्रा वगैरह भी औदयिक हैं। वेदनीय के उदय से होने वाला सुख, दुःख भी औदयिक हैं। हास्य आदि छह नोकषाय भी औदयिक हैं। आयु के उदय से एक भव में रहना भी औदयिक है। गोत्र कर्म के उदय से होने वाले नीच, उच्च गोत्र भी औदयिक हैं। नाम कर्म के उदय से होने वाली जाति वगैरह भी औदयिक हैं। इन सबका ग्रहण यहाँ क्यों नहीं किया ?

समाधान— इन सबका अन्तर्भाव इन्हीं इक्कीस भावों में हो जाता है। दर्शनावरण के उदय से होने वाले अदर्शन वगैरह का अन्तर्भाव मिथ्यादर्शन में किया है। हास्य वगैरह वेद के साथी हैं, अतः उन्हें वेद में गर्भित कर लिया है। वेदनीय, आयु और गोत्र के उदय से होने वाले भावों का अन्तर्भाव गति में कर लिया है, क्योंकि गति के ग्रहण से अघातिया कर्म के उदय से होने वाले भाव ले लिए गये हैं। इसी प्रकार अन्य भावों का भी अन्तर्भाव कर लेना चाहिए।

अब पारिमाणिक भाव के तीन भेद बतलाते हैं—

जीवभव्याभव्यत्वानि च॥७॥

अर्थ—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन जीव के असाधारण पारिणामिक भाव हैं। ये भाव जीव के सिवा अन्य द्रव्यों में नहीं होते। तथा इनके होने में किसी कर्म का उदय वगैरह भी कारण नहीं है। अतः ये

असाधारण पारिणामिक भाव कहलाते हैं। वैसे साधारण पारिणामिक भाव तो अस्तित्व, नित्यत्व, प्रदेशत्व आदि बहुत से हैं, किन्तु वे भाव अन्य अजीव द्रव्यों में भी पाये जाते हैं। इसीलिए उनको 'च' शब्द से ग्रहण कर लिया है।

जीवत्व नाम चैतन्य का है। चैतन्य जीव का स्वाभाविक गुण है। इसलिए वह पारिणामिक है। जिसमें सम्यग्दर्शन आदि परिणामों के होने की योग्यता है, वह भव्य है और जिसमें वैसी योग्यता का अभाव है, वह अभव्य है। ये दोनों बातें भी स्वाभाविक ही हैं। जैसे जिन उड़द, मूंग वगैरह में पकने की शक्ति होती है, वे निमित्त मिलने पर पक जाते हैं और जिनमें वह शक्ति नहीं होती, वे कितनी ही आग जलाने पर भी नहीं पकते। यही दशा जीवों की है।

इस तरह औपशमिक आदि जीव के पाँच भावों का वर्णन किया है।

शंका—जीव के ये भाव नहीं हो सकते; क्योंकि ये भाव कर्मबन्ध की अपेक्षा से बतलाये हैं। और आत्मा अमूर्तिक है, अतः अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक कर्मों से नहीं बँध सकता ?

समाधान—आत्मा एकान्त से अमूर्तिक ही नहीं है किन्तु मूर्तिक भी है। कर्मबन्ध की अपेक्षा से तो मूर्तिक है, क्योंकि अनादिकाल से संसारी आत्मा कर्म पुद्गलों से दूध-पानी की तरह मिला हुआ है, कभी भी कर्म से जुदा नहीं हुआ तथा शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा से अमूर्तिक है, क्योंकि यद्यपि कर्म और आत्मा, दूध और पानी की तरह एक हो रहे हैं फिर भी अपने चैतन्य स्वभाव को छोड़कर आत्मा कभी भी पुद्गलमय नहीं हो जाता। अतः अमूर्तिक है।

शंका—जब संसार अवस्था में आत्मा कर्म पुद्गलों के साथ दूध-पानी की तरह मिला हुआ है, तो उसको हम कैसे जान सकते हैं कि यह आत्मा है ?

समाधान—बन्ध की अपेक्षा से आत्मा और पुद्गल मिले होने पर

भी दोनों का लक्षण भिन्न-भिन्न है। उस लक्षण से आत्मा की पहचान हो सकती है।

इसलिए सूत्रकार जीव का लक्षण बतलाते हैं—

उपयोगो लक्षणम्॥८॥

अर्थ—जीव का लक्षण उपयोग है। चैतन्य के होने पर ही होने वाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। यह उपयोग सब जीवों में पाया जाता है और जीव के सिवा अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता।

अब उपयोग के भेद कहते हैं—

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः॥९॥

अर्थ—वह उपयोग दो प्रकार का है— ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान और कुमति, कुश्रुत और कु-अवधि ये तीन अज्ञान तथा दर्शनोपयोग के चार भेद हैं चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

विशेषार्थ—दर्शन और ज्ञान में साकार और अनाकार का भेद है। पदार्थ का आकार न लेकर जो सामान्य ग्रहण होता है, वह दर्शन है। क्योंकि एक पदार्थ से हटकर जब आत्मा दूसरे पदार्थ को जानने के अभिमुख होता है, तो पदार्थ और इन्द्रिय का सम्बन्ध होते ही वस्तु के आकार वगैरह का ग्रहण नहीं होता। अतः दर्शन निराकार है। उसके पश्चात् पदार्थ के आकार वगैरह के जानने को ज्ञान कहते हैं। छद्मस्थ के तो दर्शन के पश्चात् ज्ञान होता है; क्योंकि छद्मस्थ पदार्थों को क्रम से जानता है; किन्तु केवली भगवान् के दर्शन और ज्ञान दोनों एक साथ होते हैं। दर्शन और ज्ञान में ज्ञान प्रधान है इसलिए सूत्र में उसके भेद पहले गिनाये हैं।

शंका—जैसे अवधिज्ञान के पहले अवधिदर्शन माना है, वैसे ही मनःपर्ययज्ञान के पहले मनःपर्ययदर्शन क्यों नहीं माना ?

समाधान—प्रथम तो आगम में दर्शनावरण कर्म के भेदों में मन:पर्यय दर्शनावरण नाम का कोई भेद नहीं गिनाया, जिसके क्षयोपशम से मन:पर्यय दर्शन हो। दूसरे, मन:पर्ययज्ञान अपने विषय को अवधिज्ञान की तरह सीधा ग्रहण नहीं करता। किन्तु मन का सहारा पाकर ग्रहण करता है। अत: जैसे मन अतीत और अनागत पदार्थ का विचार ही करता है। वैसे ही मन:पर्यय ज्ञान भी अतीत अनागत को जानता ही है तथा वर्तमान पदार्थ को भी विशेष रूप से ही जानता है तथा मन के निमित्त से होने वाले मतिज्ञान के पश्चात् मन:पर्यय ज्ञान होता है। इसलिए भी मन:पर्यय दर्शन आवश्यक नहीं है।

आगे जीव के भेद बतलाते हैं—

संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥

अर्थ— जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और मुक्त।

विशेषार्थ—संसार का मतलब चक्कर लगाना है। उसी को परिवर्तन कहते हैं। परिवर्तन पाँच प्रकार का होता है—द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन, भव परिवर्तन और भाव परिवर्तन। कर्म और नोकर्म पुद्गलों को अमुक क्रम से ग्रहण करने और भोग कर छोड़ देने रूप परिभ्रमण का नाम द्रव्य परिवर्तन है। लोकाकाश के सब प्रदेशों में अमुक क्रम से उत्पन्न होने और मरने रूप परिभ्रमण का नाम क्षेत्र परिवर्तन है। क्रमवार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सब समयों में जन्म लेने और मरने रूप परिभ्रमण का नाम काल परिवर्तन है। नरकादि गतियों में बार-बार उत्पन्न होकर जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त सब आयु को भोगने रूप परिभ्रमण का नाम भव परिवर्तन है। इतना विशेष है कि देव गति में इकतीस सागर तक की ही आयु भोगनी चाहिए। सब योगस्थानों और कषायस्थानों के द्वारा क्रम से ज्ञानावरण आदि सब कर्मों की जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थिति को भोगने रूप परिभ्रमण को भाव परिवर्तन कहते हैं। संक्षेप में यह पाँच परिवर्तनों का निर्देश मात्र है। इस पञ्च परिवर्तन रूप संसार से जो जीव छूट जाते हैं, वे मुक्त कहलाते हैं। संसार पूर्वक ही मुक्त जीव होते हैं। इसलिए

सूत्र में संसारी को पहले रखा है।

अब संसारी जीव के भेद कहते हैं–

समनस्कामनस्काः ॥११॥

अर्थ– संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं– मन सहित और मन रहित। मन सहित जीवों को संज्ञी कहते हैं। संज्ञी जीव शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं, बुलाने पर आ जाते हैं और इशारे वगैरह को समझ लेते हैं। मन रहित जीवों को असंज्ञी कहते हैं। असंज्ञी जीव शिक्षा, उपदेश वगैरह ग्रहण नहीं कर सकते। इसी से अमनस्क को सूत्र में पीछे रक्खा और समनस्क को पहले रक्खा है।

आगे संसारी जीव के और भी भेद बतलाते हैं–

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥

अर्थ– संसारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं। जिसके त्रस नाम कर्म का उदय होता है, वह जीव त्रस कहलाता है और जिसके स्थावर नाम कर्म का उदय होता है, वह जीव स्थावर कहलाता है।

विशेषार्थ– कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि जो चलें फिरें, वे त्रस हैं और जो एक ही स्थान पर ठहरे रहें, वे स्थावर हैं। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से जो जीव गर्भ में हैं या अण्डे में हैं, वा चुपचाप पड़े सोते हैं अथवा मूर्छित पड़े हैं। वे त्रस नहीं कहे जा सकेंगे। तथा हवा, आग और पानी स्थावर हैं, किन्तु इनमें हलन चलन वगैरह देखा जाता है अतः वे त्रस कहे जायेंगे। इसलिए चलने और ठहरे रहने की अपेक्षा त्रस स्थावर पना नहीं है, किन्तु त्रस और स्थावर नामकर्म की अपेक्षा से ही है। इस सूत्र में भी त्रस शब्द को स्थावर पहले रखा है क्योंकि त्रस स्थावर से पूज्य है तथा अल्प अक्षरवाला भी है।

स्थावर का अधिक कथन नहीं है। इसलिए सूत्रकार क्रम का उल्लंघन करके त्रस से पहले स्थावर के भेद कहते हैं–

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

अर्थ—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति-ये पाँच स्थावर हैं। इन स्थावर जीवों के चार प्राण होते हैं- स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

विशेषार्थ—आगम में इन पाँचों स्थावरों में से प्रत्येक के चार-चार भेद बतलाये हैं। जैसे-पृथ्वी, पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक और पृथ्वीजीव। जो स्वयं ही बनी हुई अचेतन जमीन है, उसे पृथ्वी कहते हैं। जिस पृथ्वी में से जीव निकल गया तो उसे पृथ्वीकाय कहते हैं। जीव सहित पृथ्वी को पृथ्वीकायिक कहते हैं। और जो जीव पहले शरीर को छोड़कर पृथ्वीकाय में जन्म लेने के लिए जा रहा है, जब तक वह पृथ्वी को अपने शरीर रूप से ग्रहण नहीं कर लेता, तब तक उस जीव को पृथ्वी जीव कहते हैं। इसी तरह अप् (जल), तेज, वगैरह के भेद जान लेने चाहिए।

अब त्रस के भेद कहते हैं—

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥

अर्थ— दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवों को त्रस कहते हैं। दो इन्द्रिय जीव के छह प्राण होते हैं—स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ, कायबल, वचनबल, आयु और श्वासोच्छ्वास। तीनइन्द्रिय के एक घ्राणेन्द्रिय के बढ़ जाने से सात प्राण होते हैं। चौइन्द्रिय के एक चक्षु इन्द्रिय के बढ़ जाने से आठ प्राण होते हैं। पंचेन्द्रिय असैनी के एक श्रोत्र इन्द्रिय के बढ़ जाने से नौ प्राण होते हैं। और सैनी पंचेन्द्रिय के मनोबल के बढ़ जाने से दस प्राण होते हैं।

अब इन्द्रियों की संख्या बतलाते हैं—

पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥

अर्थ— इन्द्रियाँ पाँच होती हैं।

इन इन्द्रियों के भेद कहते हैं—

द्विविधानि ॥१६॥

अर्थ—इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय।

अब द्रव्येन्द्रिय का स्वरुप कहते हैं—

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

अर्थ—निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। कर्म के द्वारा होने वाली रचना-विशेष को निर्वृत्ति कहते हैं। निर्वृत्ति दो प्रकार की होती है—आभ्यन्तर निर्वृत्ति और बाह्य निर्वृत्ति। उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण विशुद्ध आत्मप्रदेशों की इंद्रियों के आकाररूप रचना होने को आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं तथा उन आत्मप्रदेशों के प्रतिनियत स्थान में पुद्‌गलों की इन्द्रिय के आकाररूप रचना होने को बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं। निर्वृति का उपकार करने वाले पुद्‌गलों को उपकरण कहते हैं। उपकरण के भी दो भेद होते हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। जैसे नेत्रों में जो काला और सफेद मण्डल है, वह आभ्यन्तर उपकरण है और पलक वगैरह बाह्य उपकरण हैं।

आगे भावेन्द्रिय का स्वरूप कहते हैं-

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥१८॥

अर्थ—लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं। इस लब्धि के होने पर ही जीव के द्रव्येन्द्रियों की रचना होती है। तथा लब्धि के निमित्त से आत्मा का जो परिणमन होता है, उसे उपयोग कहते हैं।

विशेषार्थ—आशय यह है कि जैसे किसी जीव में देखने की शक्ति तो है, किन्तु उसका उपयोग दूसरी ओर होने से वह सामने स्थित वस्तु को भी नहीं देख सकता है। इसी तरह किसी वस्तु को जानने की इच्छा के होते हुए भी यदि क्षयोपशम न हो तो नहीं जान सकता। अतः ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो आत्मा में जानने की शक्ति प्रकट होती है, वह तो लब्धि है और उसके होने पर आत्मा जो ज्ञेय पदार्थ की ओर अभिमुख होता है, वह उपयोग है। लब्धि और उपयोग के मिलने से ही पदार्थों का ज्ञान होता है।

इन्द्रियों के नाम निम्न प्रकार हैं–

स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुःश्रोत्राणि ॥१९॥

अर्थ–स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र-ये पाँच इन्द्रियों के नाम हैं।

विशेषार्थ–वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने से आत्मा जिसके द्वारा पदार्थ को छूकर जानता है, उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं। जिसके द्वारा आत्मा रस को ग्रहण करता है, उसे रसना इन्द्रिय कहते हैं। जिसके द्वारा गन्ध को ग्रहण करता है, उसे घ्राण इन्द्रिय कहते हैं। जिसके द्वारा देखता है, उसे चक्षु इन्द्रिय कहते हैं और जिसके द्वारा सुनता है, उसे श्रोत्र इन्द्रिय कहते हैं।

अब इन इन्द्रियों के विषय बतलाते हैं–

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास्तदर्थाः ॥२०॥

अर्थ–स्पर्शन इन्द्रिय का विषय स्पर्श है। रसना इन्द्रिय का विषय रस है। घ्राण इन्द्रिय का विषय गन्ध है। चक्षु इन्द्रिय का विषय रूप है और श्रोत्र इन्द्रिय का विषय शब्द है। ऐसे ये पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने अपने विषय को ही ग्रहण करती है, एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण नहीं कर सकती।

शंका–मन उपयोग में सहायक है या नहीं ?

समाधान–सहायक है, बिना मन की सहायता के इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति नहीं करतीं।

शंका–तो क्या मन का काम इतना ही है कि वह इन्द्रियों की सहायता करे, या वह स्वयं भी कुछ जानता है ?

आचार्य इसके समाधान के लिए सूत्र कहते हैं-

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥२१॥

अर्थ–अनिन्द्रिय अर्थात् मन और श्रुत अर्थात् श्रुतज्ञान का विषयभूत

पदार्थ। श्रुतज्ञान का विषयभूत पदार्थ मन का विषय है। अर्थात् श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर मन की सहायता से ही आत्मा श्रुतज्ञान के विषय को जानता है। अतः श्रुतज्ञान का होना मन का प्रमुख काम है। अपने इस काम में वह किसी इन्द्रिय की सहायता नहीं लेता।

अब स्पर्शन इन्द्रिय किसके होती है, सो बतलाते हैं—

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥

अर्थ—पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय पर्यन्त जीवों के एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है।

आगे शेष इन्द्रियों के स्वामियों को बतलाते हैं—

कृमिपिपीलिका-भ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३॥

अर्थ—कृमि आदि के एक एक इन्द्रिय अधिक होती हैं। अर्थात् लट, शंख, जोंक वगैरह के स्पर्शन और रसना–ये दो इन्द्रियाँ होती हैं। चींटी, खटमल वगैरह के स्पर्शन, रसना, घ्राण–ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। भौंरा, मक्खी, डाँस (मच्छर) वगैरह के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु–ये चार इन्द्रियाँ होती हैं और मनुष्य, पशु, पक्षी वगैरह के पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं।

अब संज्ञी जीव का स्वरूप बतलाते हैं—

संज्ञिनः समनस्काः ॥२४॥

अर्थ—मन सहित जीवों को संज्ञी कहते हैं, तथा मन रहित जीव असंज्ञी कहलाते हैं। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चौ इन्द्रिय जीव तो सब असंज्ञी ही होते हैं। पञ्चेन्द्रियों में देव, नारकी और मनुष्य संज्ञी ही होते हैं, किन्तु तिर्यञ्च मन रहित भी होते हैं।

[**शंका—**मन का काम हित और अहित की परीक्षा करके हित को ग्रहण करना और अहित को छोड़ देना है। इसी को संज्ञा कहते हैं। अतः जब संज्ञा और मन दोनों का एक ही अभिप्राय है तो 'संज्ञी' और 'समनस्क' का मतलब भी एक ही है। फिर सूत्र में दोनों पद क्यों रखे ? केवल

'संज्ञिनः' कहने से भी काम चल सकता है ?

समाधान– यह आपत्ति ठीक नहीं है; क्योंकि प्रथम तो 'संज्ञा' शब्द के अनेक अर्थ हैं– संज्ञा नाम को भी कहते हैं। अतः जितने नामवाले पदार्थ हैं, वे सब संज्ञी कहलायेंगे। संज्ञा ज्ञान को भी कहते हैं और ज्ञान सभी जीवों में पाया जाता है। अतः सभी संज्ञी कहे जायेंगे। भोजन वगैरह की इच्छा का नाम भी संज्ञा है, जो सभी संसारी जीवों में पायी जाती हैं; अतः सभी संज्ञी हो जायेंगे। इसलिए जिसके मन है, उसी को संज्ञी कहना उचित है।

दूसरे, गर्भ अवस्था में, मूर्छित अवस्था में, सुप्त अवस्था में हित अहित का विचार नहीं होता, अतः उस अवस्था में संज्ञी जीव भी असंज्ञी कहे जायेंगे। किन्तु मन के होने से उस समय भी वे संज्ञी ही हैं। अतः संज्ञी और समनस्क दोनों पदों को रखना ही उचित है]।

शंका– जिस समय जीव पूर्व शरीर को छोड़ कर नया शरीर धारण करने के लिए जाता है, उस समय उसके मन तो रहता नहीं है। फिर वह कैसे गमन करता है ?

इस शंका का समाधान करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥२५॥

अर्थ–'विग्रह' शब्द के दो अर्थ हैं। विग्रह अर्थात् शरीर, शरीर के लिए गमन करने को विग्रहगति कहते हैं। अथवा विरुद्ध ग्रहण करने को विग्रहगति कहते हैं। इसका आशय यह है कि संसारी जीव हमेशा कर्म और नोकर्म को ग्रहण करता रहता है, किन्तु विग्रहगति में कर्म पुद्‌गलों का तो ग्रहण होता है, नोकर्म पुद्‌गलों का ग्रहण नहीं होता। इसलिए उसको विरुद्ध ग्रहण कहा है और विरुद्ध ग्रहण पूर्वक जो गमन होता है, उसे विग्रहगति कहते हैं तथा कार्मण शरीर को कर्म कहते हैं; उस कार्मण शरीर के द्वारा जो आत्मा के प्रदेशों में कम्पन होता है, उसको कर्मयोग कहते हैं।

अतः सूत्र का अर्थ हुआ–विग्रहगति में कर्मयोग होता है। उस कर्मयोग

के द्वारा ही जीव नवीन कर्मों को ग्रहण करता है तथा मृत्यु स्थान से अपने जन्म लेने के नये स्थान तक जाता है।

अब यह बताते हैं कि जीव और पुद्गलों का गमन किस क्रम से होता है—

अनुश्रेणि गतिः ॥२६॥

अर्थ—लोक के मध्य से लेकर ऊपर, नीचे और तिर्यक् दिशा में आकाश के प्रदेशों की सीधी कतार को श्रेणी कहते हैं। जीवों और पुद्गलों की गति आकाश के प्रदेशों की पंक्ति के अनुसार ही होती है, पंक्ति को लाँघ कर विदिशाओं में गमन नहीं होता।

[**शंका—**यहाँ तो जीव का अधिकार है, पुद्गल का ग्रहण यहाँ कैसे किया ?

समाधान—यहाँ 'विग्रहगतौ कर्मयोगः' सूत्र से गति का अधिकार है। फिर इस सूत्र में 'गति' पद का ग्रहण पुद्गल का ग्रहण करने के लिए ही किया गया है। तथा आगे 'अविग्रहा जीवस्य' इस सूत्र में जीव का अधिकार होते हुए जो जीव का ग्रहण किया है, उससे भी यही अर्थ निकलता है कि यहाँ पुद्गल की गति भी बतलायी गयी है।

विशेषार्थ—यद्यपि यहाँ जीव और पुद्गल की गति श्रेणी के अनुसार बतलायी है, किन्तु इतना विशेष है कि सभी जीव पुद्गलों की गति श्रेणी के अनुसार नहीं होती। जिस समय जीव मर कर नया शरीर धारण करने के लिए जाता है, उस समय उसकी गति श्रेणी के अनुसार ही होती है। तथा पुद्गल का शुद्ध परमाणु जो एक समय में चौदह राजु गमन करता है, वह भी श्रेणी के अनुसार ही गमन करता है। शेष गतियों के लिए कोई नियम नहीं है]।

अब मुक्त-जीव की गति बतलाते हैं—

अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥

अर्थ— मुक्त-जीव की गति मोड़े रहित होती है। अर्थात् मुक्त-जीव श्रेणी के अनुसार ऊपर गमन करके एक समय में ही सिद्धक्षेत्र में जाकर

ठहर जाता है।

शंका— सूत्र में तो केवल 'जीव' कहा है, फिर उसका अर्थ मुक्त-जीव कैसे ले लिया ?

समाधान— आगे के सूत्र में 'संसारी' का ग्रहण किया है, अतः इस सूत्र में जीव शब्द से मुक्त जीव लेना चाहिए।

संसारी जीव जब परलोक को जाता है, तो उसकी गति कैसे होती है, यह बतलाते हैं-

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥२८॥

अर्थ—संसारी जीव की गति चार समय से पहले मोड़े सहित होती है। अर्थात् संसारी जीव जब नया शरीर धारण करने के लिए गमन करता है, तो श्रेणि के अनुसार ही गमन करता है। किन्तु यदि मरण स्थान से लेकर जन्म स्थान तक जाने के लिए सीधी श्रेणि नहीं होती तो स्थान के अनुसार एक, दो या तीन मोड़ लेता है। प्रत्येक मोड़ में एक समय लगता है। अतः एक मोड़े वाली गति में दूसरे समय में जन्म स्थान पर पहुँचता है, दो मोड़े वाली गति में तीसरे समय में और तीन मोड़े वाली गति में चौथे समय में अपने जन्म स्थान पर पहुंच जाता है। सूत्र में आये 'च' शब्द से यह अर्थ लेना चाहिए कि संसारी जीव की गति बिना मोड़े वाली भी होती है।

आगे बतलाते हैं कि बिना मोड़े वाली गति में कितना काल लगता है—

एक समयाविग्रहा ॥२९॥

अर्थ— बिना मोड़े वाली गति में एक समय लगता है। इसी को ऋजुगति कहते हैं।

आगे विग्रहगति में आहारक और अनाहारक का नियम बतलाते हैं

एकं द्वौ त्रीन् वाऽनाहारकः ॥३०॥

अर्थ—विग्रह गति में जीव एक समय, दो समय अथवा तीन समय तक अनाहारक रहता है। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीर

और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्‌गलों के ग्रहण करने को आहार कहते हैं। और शरीर के योग्य पुद्‌गलों के ग्रहण न करने को अनाहार कहते हैं। जो जीव एक मोड़ा लेकर उत्पन्न होता है, वह जीव एक़ समय तक अनाहारक रहता है। जो जीव दो मोड़ा लेकर उत्पन्न होता है वह जीव, दो समय तक अनाहारक रहता है और जो तीन मोड़ा लेकर उत्पन्न होता है, वह जीव तीन समय तक अनाहारक रहता है। अर्थात् मोड़े के समय अनाहारक रहता है। किन्तु जब मोड़ा समाप्त करके अपने उत्पत्तिस्थान के लिए सीधा गमन करता है, उस समय आहारक हो जाता है।

इस तरह छह सूत्रों के द्वारा गति का कथन करके अब जन्म के भेद बतलाते हैं—

सम्मूर्च्छन-गर्भोपपादा जन्म ॥३१॥

अर्थ—जन्म तीन प्रकार का है-सम्मूर्छन-जन्म, गर्भ-जन्म और उपपादजन्म। तीनों लोकों में सर्वत्र बिना माता-पिता के सम्बन्ध के सब ओर से पुद्‌गलों को ग्रहण करके जो शरीर की रचना हो जाती है, उसे सम्मूर्छन जन्म कहते हैं। स्त्री के उदर में माता-पिता के रज-वीर्य के मिलने से जो शरीर की रचना होती है, उसे गर्भ जन्म कहते हैं। और जहाँ जाते ही एक अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण शरीर बन जाता है, ऐसे देव और नारकियों के जन्म को उपपाद जन्म कहते हैं। इस तरह संसारी जीवों के तीन प्रकार के जन्म हुआ करते हैं।

आगे योनि के भेद बतलाते हैं—

सचित्त-शीत-संवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

अर्थ— सचित्त, शीत, संवृत, इनके उल्टे अचित्त, उष्ण, विवृत और इन तीनों का मेल अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृतविवृत, ये योनि के नौ भेद होते हैं।

जीवों के उत्पन्न होने के स्थान-विशेष को योनि कहते हैं। जो योनि चेतना सहित हो उसे सचित्त योनि कहते हैं, अचेतन हो तो अचित्त कहते

हैं, और दोनों रूप हो तो सचित्ताचित्त योनि कहते हैं। शीत स्पर्श रूप हो तो शीत योनि कहते हैं, उष्ण स्पर्श रूप हो तो उष्ण योनि कहते हैं, और दोनों रूप हो तो शीतोष्ण योनि कहते हैं। योनि स्थान ढका हुआ हो, स्पष्ट दिखायी न देता हो तो उसे संवृत योनि कहते हैं। स्पष्ट दिखायी देता हो तो उसे विवृत योनि कहते हैं और कुछ ढका हुआ तथा कुछ खुला हुआ हो तो उसे संवृत-विवृत्त कहते हैं। योनि और जन्म में आधार और आधेय का भेद है। योनि आधार है और जन्म आधेय है; क्योंकि सचित्त आदि योनियों में जीव सम्मूर्छन आदि जन्म लेकर उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ—उदाहरण के रूप में यहाँ कुछ जीवों की योनियाँ बतलाते हैं उक्त नौ योनियों में से देव, नारकियों की योनि अचित्त, शीत और उष्ण तथा संवृत होती है। गर्भ जन्म वालों की योनि सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण और शीतोष्ण तथा संवृतविवृत होती है। सम्मूर्छन जन्म वालों की योनि सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण और शीतोष्ण होती है। इतना विशेष है कि तेजस्कायिक जीवों की उष्ण योनि ही होती है। तथा एकेन्द्रियों की संवृत योनि और विकलेन्द्रियों की विवृत योनि होती है। इस तरह सामान्य से नौ योनियाँ होती हैं और विस्तार से चौरासी लाख योनियाँ कही हैं।

अब बतलाते हैं कि किन प्राणियों का कौन जन्म होता है—

जरायुजाण्डज-पोतानां गर्भः ॥३३॥

अर्थ—जरायुज, अण्डज और पोत इन तीन प्रकार के प्राणियों के गर्भ जन्म होता है। जन्म के समय प्राणि के ऊपर जाल की तरह जो रुधिर मांस की खोल लिपटी रहती है, उसे जरायु या जेर कहते हैं। और उससे जो उत्पन्न होते हैं, उन्हें जरायुज कहते हैं। जैसे-मनुष्य, बैल वगैरह। जो जीव अण्डे से उत्पन्न होते हैं, उन्हें अण्डज कहते हैं। जैसे कबूतर आदि पक्षी। और जिसके ऊपर कुछ भी आवरण नहीं होता तथा जो योनि से निकलते ही चलने फिरने लगता है, उसे पोत कहते हैं, जैसे शेर वगैरह। इन तीनों प्रकार के प्राणियों के गर्भ जन्म ही होता है।

आगे बतलाते हैं कि उपपाद जन्म किसके होता है-

देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥

अर्थ— देवों और नारकियों के उपपाद जन्म ही होता है।

आगे शेष जीवों के कौन सा जन्म होता है, यह बतलाते हैं—

शेषाणां सम्मूर्छनम् ॥३५॥

अर्थ—गर्भ जन्म वाले मनुष्य, तिर्यञ्चों और उपपाद जन्म वाले देव, नारकियों के सिवा बाकी के एकेन्द्रियों, विकलेन्द्रियों और किन्हीं पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के सम्मूर्छन जन्म ही होता है।

अब शरीरों का वर्णन करते हैं—

औदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजस-कार्मणानि शरीराणि ॥३६॥

अर्थ—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच शरीर हैं।

स्थूल शरीर को औदारिक कहते हैं। जो एक, अनेक, सूक्ष्म, स्थूल, हल्का, भारी आदि किया जा सके, उसे वैक्रियिक शरीर कहते हैं। छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के द्वारा सूक्ष्म पदार्थ को जानने के लिए, अथवा संयम की रक्षा के लिए, अन्य क्षेत्र में वर्तमान केवली या श्रुत-केवली के पास भेजने को अथवा अन्य क्षेत्र के जिनालयों की वन्दना करने के उद्देश्य से जो शरीर रचा जाता है, उसे आहारक शरीर कहते हैं। औदारिक आदि शरीरों को कांति देनेवाला शरीर तैजस कहलाता है। और ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं।

जैसे औदारिक शरीर दिखायी देता है, वैसे वैक्रियिक आदि शरीर क्यों नहीं दिखायी देते ? इसका उत्तर देते हैं—

परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥

अर्थ—औदारिक से आगे के शरीर सूक्ष्म होते हैं। अर्थात् औदारिक

से वैक्रियिक सूक्ष्म है, वैक्रियिक से आहारक सूक्ष्म है, आहारक से तैजस सूक्ष्म है और तैजस से कार्मण सूक्ष्म है।

यदि आगे आगे के शरीर सूक्ष्म हैं, तो उनके बनने में पुद्गल के परमाणु भी कम कम लगते होंगे ? इस आशंका को दूर करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥३८॥

अर्थ—यहाँ प्रदेश शब्द का अर्थ परमाणु है। परमाणुओं की अपेक्षा से, तैजस से पहले के शरीर असंख्यात गुने, असंख्यात गुने हैं। अर्थात् औदारिक शरीर में जितने परमाणु हैं, उनसे असंख्यात गुने परमाणु वैक्रियिक शरीर में हैं। और वैक्रियिक शरीर से असंख्यात गुने परमाणु आहारक शरीर में होते हैं।

शंका—यदि आगे आगे के शरीर में असंख्यात गुने, असंख्यात गुने, परमाणु होते हैं तो आगे आगे के शरीर तो औदारिक से भी स्थूल होने चाहिए। फिर आगे आगे के शरीर सूक्ष्म होते हैं, ऐसा क्यों कहा ?

समाधान—असंख्यात गुने, असंख्यात गुने, परमाणुओं से बने होने पर भी आगे के शरीर स्थूल नहीं हैं। बल्कि बन्धन के ठोस होने से उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। जैसे- रुई का ढेर और लोहे का पिण्ड।

अब तैजस और कार्मण शरीर के प्रदेश बतलाते हैं—

अनन्तगुणे परे ॥३९॥

अर्थ—आहारक शरीर से तैजस में अनन्त गुने परमाणु होते हैं और तैजस से कार्मण में अनन्त गुने परमाणु होते हैं।

शंका—यदि तैजस और कार्मण शरीर में इतने परमाणु होते हैं तो इन दोनों शरीरों के साथ होने से संसारी जीव अपने इच्छित प्रदेश को गमन नहीं कर सकेगा ?

इस आशंका को दूर करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

अप्रतिघाते ॥४०॥

अर्थ—तैजस और कार्मण शरीर अप्रतिघाती हैं। अर्थात् जैसे अग्नि

लोहे के पिण्ड में घुस जाती है, वैसे ही ये दोनों शरीर भी वज्रमय पटल से भी नहीं रुकते हैं।

[**शंका**—वैक्रियिक और आहारक शरीर भी सूक्ष्म होने के कारण किसी से रुकते नहीं हैं, फिर इनको अप्रतिघाती क्यों नहीं कहा?

समाधान—यहाँ उन्हीं को अप्रतिघाती कहा है, जो समस्त लोक में कहीं भी नहीं रुकते। वैक्रियिक और आहारक समस्त लोक में अप्रतिघाती नहीं है। क्योंकि आहारक शरीर तो अढ़ाई द्वीप तक ही जा सकता है, और मनुष्यों को ऋद्धि द्वारा प्राप्त हुआ वैक्रियिक भी मनुष्यलोक तक ही जा सकता है। तथा देवों का वैक्रियिक शरीर त्रस नाली के भीतर ही ऊपर सोलहवें स्वर्ग तक और नीचे तीसरे नरक तक जा सकता है। अतः समस्त लोक में अप्रतिघाती तो तैजस और कार्मण ही हैं।]

इन दो शरीरों के विषय में और भी विशेष कहते हैं—

अनादिसम्बन्धे च ॥४१॥

अर्थ—यहाँ 'च' शब्द विकल्पार्थक है। अतः आत्मा से तैजस और कार्मण का सम्बन्ध अनादि भी है और सादि भी है। कार्य-कारण रूप बन्ध की परम्परा की अपेक्षा तो अनादि सम्बन्ध है। अर्थात् जैसे औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर का सम्बन्ध अनित्य है, कभी कोई शरीर होता है और कभी नहीं होता। ऐसी बात तैजस और कार्मण में नहीं है। ये दोनों शरीर तो सब अवस्थाओं में संसारी जीव के साथ सदा ही रहते हैं। अतः अनादि हैं। तथा पहले के बंधे तैजस और कार्मण की प्रति समय निर्जरा होती रहती है और नवीन का बन्ध होता रहता है। इस अपेक्षा से सादि हैं।

विशेषार्थ—जो लोग शरीर का आत्मा के साथ सम्बन्ध सर्वथा सादि या सर्वथा अनादि ही मानते हैं, उनके मत में अनेक दोष आते हैं। यदि आत्मा से शरीर का सम्बन्ध सादि ही माना जाये तो शरीर का सम्बन्ध होने से पहले आत्मा अत्यन्त शुद्ध ठहरी। ऐसी अवस्था में सर्वथा शुद्ध आत्मा

के साथ शरीर का सम्बन्ध बिना निमित्त के कैसे हो सकता है ? यदि शुद्ध आत्मा के भी बिना निमित्त के शरीर का सम्बन्ध हो सकता है तो मुक्त जीवों के भी फिर से शरीर का सम्बन्ध होने का प्रसंग आ जायेगा। तब तो मुक्तात्मा का ही अभाव हो जायेगा। यदि आत्मा और शरीर का सम्बन्ध एकान्त से अनादि ही माना जायेगा तो जो सर्वथा अनादि होता है, उसका अन्त नहीं होता। अतः जीव की कभी मुक्ति नहीं होगी। इसलिए शरीर का सम्बन्ध कदाचित् सादि और कदाचित् अनादि ही मानना उचित है।

ये दोनों शरीर किसी किसी जीव के होते हैं अथवा सब जीवों के होते हैं ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

सर्वस्य ॥४२॥

अर्थ— ये दोनों शरीर सभी संसारी जीवों के होते हैं।

आगे बतलाते हैं कि इन पाँच शरीरों में से एक जीव के एक साथ कितने शरीर हो सकते हैं—

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याचतुर्भ्यः ॥४३॥

अर्थ— तैजस और कार्मण शरीर को लेकर एक जीव के एक समय में चार शरीर तक विभाग कर लेना चाहिए। अर्थात् विग्रहगति में तो जीव के तैजस और कार्मण ये दो शरीर ही होते हैं। विग्रहगति के सिवा अन्य अवसरों पर मनुष्य और तिर्यञ्चों के औदारिक, तैजस और कार्मण ये तीन शरीर होते हैं। तथा छट्ठे गुणस्थानवर्ती किसी किसी मुनि के औदारिक, आहारक, तैजस, कार्मण या औदारिक, वैक्रियिक, तैजस, कार्मण ये चार शरीर होते हैं। वैक्रियिक और आहारक शरीर एक साथ न होने से एक साथ पाँच शरीर नहीं होते।

आगे शरीरों के विषय में विशेष कथन करते हैं—

निरुपभोगमन्त्यम् ॥४४॥

अर्थ—अन्त का कार्मण शरीर उपभोग रहित है।

इन्द्रियों के द्वारा शब्द वगैरह के ग्रहण करने को उपभोग कहते हैं।

इस प्रकार का उपभोग कार्मण शरीर में नहीं होता, इसलिए वह निरुपभोग है। आशय यह है कि विग्रहगति में कार्मण शरीर के द्वारा ही योग होता है, किन्तु उस समय लब्धि रूप भावेन्द्रिय ही होती है, द्रव्येन्द्रिय नहीं होती। इसलिए शब्द आदि विषयों का अनुभव विग्रहगति में न होने से कार्मण शरीर को निरुपभोग कहा है।

[**शंका—** तैजस शरीर भी तो निरुपभोग है, फिर उसे क्यों नहीं कहा ?

समाधान— तैजस शरीर तो योग में भी निमित्त नहीं है। अर्थात जैसे अन्य शरीरों के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में कम्पन होता है, तैजस के निमित्त से तो वह भी नहीं होता। अतः वह तो निरुपभोग ही है, इसी से यहाँ उसका कथन नहीं किया; क्योंकि निरुपभोग और सोपभोग का विचार करते समय उन्हीं शरीरों का अधिकार है, जो योग में निमित्त होते हैं। ऐसे शरीर तैजस के सिवा चार ही हैं। उनमें भी केवल कार्मण शरीर निरुपभोग है, बाकी के तीन शरीर सोपभोग हैं क्योंकि उनमें इन्द्रियाँ होती हैं और उनके द्वारा जीव विषयों को भोगता है।

अब यह बतलाते हैं कि किस जन्म से कौन-सा शरीर होता है

गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम् ॥४५॥

अर्थ—गर्भ जन्म तथा सम्मूर्छन जन्म से जो शरीर उत्पन्न होता है, वह औदारिक शरीर है।

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥४६॥

अर्थ—उपपाद जन्म से जो शरीर उत्पन्न होता है, वह वैक्रियिक शरीर है।

यदि वैक्रियिक शरीर उपपाद जन्म से उत्पन्न होता है, तो क्या बिना उपपाद जन्म के वैक्रियिक शरीर नहीं होता ? इस आशंका को दूर करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

लब्धिप्रत्ययं च ॥४७॥

अर्थ—लब्धि से भी वैक्रियिक शरीर होता है। विशेष तपस्या करने से जो ऋद्धि की प्राप्ति होती है, उसे लब्धि कहते हैं। अतः मनुष्यों के तप के प्रभाव से भी वैक्रियिक शरीर हो जाता है।

तप के प्रभाव से वैक्रियिक शरीर ही होता है या अन्य शरीर भी होते हैं ? इस आशंका का समाधान करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

तैजसमपि ॥४८॥

अर्थ—तैजस शरीर भी लब्धिप्रत्यय होता है।

विशेषार्थ—तैजस शरीर दो प्रकार का होता है–एक शरीर से निकलकर बाहर जाने वाला और दूसरा शरीर में ही रहकर उसको कान्ति देने वाला, जो सब संसारी जीवों के पाया जाता है। निकलने वाला तैजस शुभ भी होता है और अशुभ भी। किसी क्षेत्र के लोगों को रोग, दुर्भिक्ष वगैरह से पीड़ित देखकर यदि तपस्वी मुनि के हृदय में अत्यन्त करुणा उत्पन्न हो जाये तो दाहिने कन्धे से शुभ तैजस निकलकर बारह योजन क्षेत्र के मनुष्यों का दुःख दूर कर पुनः मुनि के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। और यदि तपस्वी मुनि किसी क्षेत्र के मनुष्यों पर अत्यन्त क्रुद्ध हो जाते हैं, तो उनके तप के प्रभाव से बाएँ कन्धे से सिन्दूर के समान लाल अशुभ तैजस निकलता है और उस क्षेत्र में जाकर बारह योजन के भीतर के जीवों को जलाकर राख कर देता है। पीछे मुनि को भी जला डालता है।

आगे आहारक शरीर का स्वरूप कहते हैं—

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥४९॥

अर्थ—आहारक शरीर शुभ है, विशुद्ध है, व्याघात रहित है और प्रमत्तसंयत मुनि के ही होता है।

विशेषार्थ—आहारक शरीर का रंग सफेद, और ऊँचाई एक हाथ होती है। समचतुरस्र संस्थान होता है, धातु उपधातु से रहित होता है। न किसी से रुकता है और न किसी को रोकता है। प्रमत्त-संयत मुनि के मस्तक से उत्पन्न होता है। कभी तो ऋद्धि का सद्भाव जानने के लिए

आहारक शरीर की रचना होती है। कभी सूक्ष्म पदार्थ का निर्णय करने के लिए। सो मुनि के मस्तक से निकल कर वह केवली भगवान् के पास जाता है और सूक्ष्म पदार्थ का निर्णय करके अन्तर्मुहूर्त में लौटकर मुनि के शरीर में ही प्रवेश कर जाता है, तीर्थ यात्रा के उद्देश्य से भी निकलता है।

इस तरह चौदह सूत्रों के द्वारा पाँच शरीरों का कथन करके अब सूत्रकार लिंग का कथन करते हैं—

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि॥५०॥

अर्थ— नारकी और सम्मूर्छन जीव नपुंसक लिंग वाले ही होते हैं।

न देवा:॥५१॥

अर्थ—देव नपुंसक लिंग वाले नहीं होते। देवगति में पुरुष वेद और स्त्री वेद, दो ही वेद होते हैं।

शेषास्त्रिवेदा:॥५२॥

अर्थ—नारकी, देव तथा सम्मूर्छन जीवों के सिवा शेष जीव अर्थात् गर्भज तिर्यञ्च और मनुष्य तीनों वेद वाले होते हैं। इतना विशेष है कि भोगभूमि तथा म्लेच्छ-खण्ड के मनुष्यों में स्त्री-पुरुष वेद ही होते हैं।

अब आगे यह बतलाते हैं कि कौन कौन जीव पूरी आयु भोग कर ही मरण करते हैं—

औपपादिक-चरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥

अर्थ—औपपादिक अर्थात् देव नारकी, चरमोत्तम-देह अर्थात् उसी भव से मोक्ष जाने वाले और असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमिया जीव पूरी आयु भोगकर ही शरीर छोड़ते हैं, विष, शस्त्र वगैरह से इनकी आयु नहीं छिदती। इसके सिवा शेष जीवों की आयु का कोई नियम नहीं है।

विशेषार्थ—कर्मभूमि के मनुष्य और तिर्यचों की भुज्यमान आयु

की उदीरणा होती है। उदीरणा के होने से आयु की स्थिति जल्दी पूरी हो कर अकाल में ही मरण हो जाता है। जैसे आम वगैरह को पाल देकर समय से पहले ही पका लिया जाता है। एक उदाहरण के द्वारा इसे स्पष्ट किया जाता है–किसी जीव ने मनुष्यायु का बन्ध किया और उसकी स्थिति सौ वर्ष की बाँधी। सो आयु–कर्म का जितना प्रदेश बन्ध किया, सौ वर्ष के जितने समय होते हैं, उतने समयों में उन कर्म परमाणुओं की निषेक रचना तत्काल हो गयी। जब वह मर कर मनुष्य पर्याय में उत्पन्न हुआ तो प्रति समय आयु कर्म का एक एक निषेक उदय में आ कर खिरने लगा। यदि इसी तरह क्रम से एक एक समय में एक एक आयु का निषेक उदय में आता रहता तो सौ वर्ष में जा कर पूरे निषेक खिरते और इस तरह वह जीव पूरे सौ वर्ष तक मनुष्य पर्याय में रह कर मरण करता। किन्तु बावन वर्ष की उम्र तक तो एक–एक समय में एक–एक निषेक की निर्जरा होती रही। बाद में पापकर्म का उदय आ जाने से किसी ने उसे जहर दे दिया अथवा उसने स्वयं जहर खा लिया, या कोई भयानक रोग हो गया, अथवा किसी ने मार डाला तो अड़तालीस वर्षों में उदय आने वाले निषेकों की अन्तर्मुहूर्त में उदीरणा हो जाती है। यह अकाल मरण कहलाता है। किन्तु यदि किसी ने बावन वर्ष की ही आयु बाँधी हो और वह बावन वर्ष की आयु पूरी करके मरे तो वह अकाल मरण नहीं है।

शंका—जैसे कर्मभूमि के मनुष्यों और तिर्यञ्चों की आयु घट जाती है वैसे ही आयु बढ़ भी सकती है या नहीं ?

समाधान—जो आयु हम भोग रहे हैं, वह बढ़ नहीं सकती; क्योंकि उस आयु का बन्ध पूर्व जन्म में हो चुका है। अतः उसमें अब बढ़ने की गुंजाइश नहीं है, हाँ, घट जरूर सकती है।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अब जीवों का आधार बतलाते हुए
पहले अधोलोक का वर्णन करते हैं–

रत्न-शर्करा-बालुका-पङ्क-धूम-तमो-महातमःप्रभा भूमयो घनाम्बु-वाताकाश-प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥१॥

अर्थ– रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा ये सात भूमियाँ नीचे-नीचे हैं। ये भूमियाँ घनोदधि वातवलय के आधार हैं; घनोदधि वातवलय घन वातवलय के आधार है, घन वातवलय तनु वातवलय के आधार है और तनु वातवलय आकाश के आधार है। तथा आकाश अपने ही आधार है; क्योंकि आकाश सबसे बड़ा और अनन्त है। इसलिए उसका आधार कोई दूसरा नहीं हो सकता।

विशेषार्थ– रत्नप्रभा नाम की पहली पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार योजन की मोटी है। उसकी मोटाई के तीन भाग हैं। ऊपर का खरभाग सोलह हजार योजन मोटा है। उसके नीचे का पंक भाग चौरासी हजार योजन मोटा है और उसके नीचे का अब्बहुल भाग अस्सी हजार योजन मोटा है। खर भाग के ऊपर और नीचे एक एक हजार योजन छोड़ कर बीच के चौदह हजार मोटे और एक राजू प्रमाण लम्बे चौड़े भागों में राक्षसों के सिवा शेष सात प्रकार के व्यन्तर और असुर कुमारों के सिवा शेष नौ प्रकार के भवनवासी देव रहते हैं। पंक भाग में राक्षस और असुर कुमार रहते हैं। और अब्बहुल भाग में प्रथम नरक है, जिसमें नारकी रहते हैं। पहली पृथ्वी के नीचे कुछ कम एक राजू अन्तराल छोड़ कर दूसरी शर्कराप्रभा पृथ्वी है, उसकी मोटाई बत्तीस हजार योजन है। उसके नीचे कुछ कम एक राजू अन्तराल छोड़कर तीसरी बालुका प्रभा पृथ्वी है। वह अट्ठाईस हजार योजन मोटी है। उसके नीचे कुछ कम राजू अन्तर देकर चौथी पृथ्वी चौबीस हजार योजन मोटी है। इसी तरह नीचे नीचे कुछ कम

एक राजू का अन्तर देकर बीस हजार योजन मोटी पाँचवीं पृथ्वी और सोलह हजार योजन मोटी छठी पृथ्वी है। फिर कुछ कम एक राजू का अन्तर देकर आठ हजार योजन मोटी सातवीं पृथ्वी है। सातवीं पृथ्वी से एक राजू नीचे लोक का अन्त है। इन सातों पृथ्वियों की लम्बाई और चौड़ाई लोक के अन्त तक है। जिस पृथ्वी का जैसा नाम है वैसी ही उसमें प्रभा है।

तासु त्रिंशत्-पञ्चविंशति-पञ्चदश-दश-त्रि-पञ्चोनैक-नरक-शत-सहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥२॥

अर्थ– उन रत्नप्रभा आदि भूमियों में नरकों की संख्या इस प्रकार है–पहली पृथ्वी के अब्बहुल भाग में तीस लाख, दूसरी पृथ्वी में पच्चीस लाख, तीसरी पृथ्वी में पन्द्रह लाख, चौथी में दस लाख, पाँचवीं पृथ्वी में तीन लाख, छठी में पाँच कम एक लाख और सातवीं में पाँच नरक अर्थात् बिल हैं। नरकवास (कुल ८४ लाख बिल) हैं।

विशेषार्थ– जैसे पृथ्वी में गड्ढे होते हैं, वैसे ही नारकियों के बिल होते हैं। कुछ बिल संख्यात योजन और कुछ असंख्यात योजन लम्बे चौड़े हैं। पहले नरक की पृथ्वी में तेरह पटल हैं और नीचे नीचे प्रत्येक पृथ्वी में दो दो पटल कम होते गये हैं। अर्थात् दूसरी में ग्यारह, तीसरी में नौ, चौथी में सात,पाँचवीं में पाँच, छठी में तीन और सातवीं में एक ही पटल है। इस तरह कुल पृथ्वियों में उनचास पटल हैं, जो नीचे-नीचे हैं।

इन पटलों में इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक, इस तरह तीन प्रकार के बिल होते हैं। प्रत्येक पटल के बीच में जो बिल है, उसे इन्द्रक बिल कहते हैं। उस इन्द्रक बिल की चारों दिशाओं और चारों विदिशाओं में जो पंक्ति-वार बिल हैं, वे श्रेणीबद्ध कहे जाते हैं। और दिशा-विदिशाओं के अन्तराल में बिना क्रम के जो बिल हैं, उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं। प्रथम पटल की चारों दिशाओं में उनचास-उनचास और विदिशाओं में अड़तालीस-अड़तालीस श्रेणीबद्ध बिल हैं। आगे, नीचे-नीचे प्रत्येक पटल की चारों

दिशाओं में और चारों विदिशाओं में एक-एक बिल घटता जाता है। इस तरह प्रत्येक पटल में, आठ-आठ बिल घटते जाते हैं। घटते-घटते सातवें नरक के पटल में, जो कि उनचासवां पटल है, केवल दिशाओं में ही एक-एक बिल है। विदिशाओं में बिल नहीं है। अतः वहाँ केवल पाँच ही बिल हैं। सातों नरकों में कुल बिल चौरासी लाख हैं। जिनमें उनचास इन्द्रक बिल और नौ हजार छह सौ चार श्रेणीबद्ध बिल हैं। शेष तिरासी लाख नब्बे हजार तीन सौ सैंतालीस प्रकीर्णक बिल हैं। उनचास इन्द्रक बिलों में से प्रथम नरक का पहला इन्द्रक पैंतालीस लाख योजन विस्तार वाला है जो अढ़ाईद्वीप के बराबर है, और उसी के ठीक नीचे है। नीचे क्रम से घटते घटते सातवें नरक का इन्द्रक एक लाख योजन विस्तार वाला है। सभी इन्द्रक संख्यात योजन विस्तार वाले हैं, सभी श्रेणीबद्ध असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं और प्रकीर्णकों में से कुछ संख्यात योजन विस्तार वाले हैं और कुछ असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं।

नारका नित्याशुभतर-लेश्या-परिणाम-देह-वेदना-विक्रियाः ॥३॥

अर्थ—नारकी जीवों के सदा अशुभतर लेश्या, अशुभतर परिणाम, अशुभतर वेदना और अशुभतर विक्रिया होती है।

विशेषार्थ—पहली और दूसरी पृथ्वी के नारकियों के कापोत लेश्या होती है, तीसरी में ऊपर के बिलों में कापोत और नीचे के बिलों में नील लेश्या होती है। चौथी में नील लेश्या ही है। पाँचवीं में ऊपर के बिलों में नील और नीचे के बिलों में कृष्ण लेश्या होती है। छठी में कृष्ण लेश्या ही है और सातवीं में परम कृष्ण है। इस तरह नीचे-नीचे अधिक-अधिक अशुभ लेश्या होती है। उनका स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दों का परिणमन भी वहाँ के क्षेत्र की विशेषता के निमित्त से अति दुःख का ही कारण होता है। उनका शरीर भी अत्यन्त अशुभ होता है, हुण्डक संस्थान के होने से देखने में बड़ा भयंकर लगता है। पहली पृथ्वी के अन्तिम पटल में नारकियों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष, तीन हाथ, छह अँगुल होती है।

नीचे-नीचे प्रत्येक पृथ्वी में दूनी-दूनी ऊँचाई होती जाती है। इस तरह सातवें नरक में पाँच सौ धनुष ऊँचाई होती है। तथा शीत-ऊष्ण की भयंकर वेदना भी है। पहली से लेकर चौथी पृथ्वी तक सब बिल गर्म ही हैं। पाँचवीं में ऊपर के दो लाख बिल गर्म हैं और नीचे के एक लाख बिल ठण्डे हैं। छठी और सातवीं के बिल भयंकर ठण्डे ही हैं। ये नारकी विक्रिया भी बुरी से बुरी ही करते हैं।

परस्परोदीरित-दुःखाः॥४॥

अर्थ— इसके सिवा नारकी जीव आपस में ही एक-दूसरे को दुःख देते हैं।

विशेषार्थ—जैसे यहाँ कुत्तों में जातिगत वैमनस्य देखा जाता है, वैसे ही नारकी जीव भी कुअवधि ज्ञान के द्वारा दूर से ही नारकियों को देखकर और उनको अपने दुःख का कारण जानकर दुःखी होते हैं। फिर निकट आने पर परस्पर एक-दूसरे को देखने से उनका क्रोध भड़क उठता है। और अपनी विक्रिया के द्वारा बनाये गये अस्त्र-शस्त्रों से आपस में मार काट करने लगते हैं। इस तरह एक-दूसरे के टुकड़े-टुकड़े कर डालने पर भी उनका मरण अकाल में नहीं होता।

दुख के और भी कारण बतलाते हैं—

संक्लिष्टासुरोदीरित-दुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः॥५॥

अर्थ— संक्लेश परिणाम वाले जो अम्बावरीष जाति के असुरकुमार देव हैं, वे तीसरी पृथ्वी तक जाकर नारकियों को दुःख देते हैं, उन्हें आपस में लड़ाते हैं।

अब नारकियों की आयु बतलाते हैं—

तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्-सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः॥६॥

अर्थ—नारकी जीवों की उत्कृष्ट आयु पहली पृथ्वी में एक सागर, दूसरी में तीन सागर, तीसरी में सात सागर, चौथी में दश सागर, पाँचवीं में

सत्रह सागर, छठी में बाईस सागर और सातवीं में तैंतीस सागर होती है।

इस तरह अधोलोक का वर्णन किया। आगे मध्य लोक का वर्णन करते हैं। मध्य लोक को तिर्यग्लोक भी कहते हैं, क्योंकि स्वयंभूरमण समुद्र तक एक दूसरे को घेरे हुए असंख्यात द्वीप समुद्र तिर्यक् (आजू-बाजू) रूप से स्थित हैं।

इसी से मध्य लोक का वर्णन प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार पहले इसी बात की चर्चा करते हैं—

जम्बूद्वीप-लवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः॥७॥

अर्थ—मध्यलोक में जम्बूद्वीप और लवण समुद्र वगैरह अनेक द्वीप और समुद्र हैं। अर्थात् पहला द्वीप जम्बूद्वीप है और उसके बाद पहला समुद्र लवणसमुद्र है। लवण समुद्र के बाद दूसरा द्वीप धातकीखण्ड है। और धातकी खण्ड के बाद दूसरा समुद्र कालोदधि है। कालोदधि के बाद तीसरा द्वीप पुष्करवर है और उसके बाद तीसरे समुद्र का नाम भी पुष्करवर है। इसके आगे जो द्वीप का नाम है, वही उसके बाद के समुद्र का नाम है। सबसे अन्तिम द्वीप और समुद्र का नाम स्वयंभूरमण है।

आगे इन द्वीप समुद्रों का विस्तार वगैरह बतलाते हैं—

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्व-पूर्व-परिक्षेपिणो वलयाकृतयः॥८॥

अर्थ—इन द्वीप और समुद्रों का विस्तार, आगे आगे दूना दूना होता गया है तथा प्रत्येक द्वीप और समुद्र अपने से पूर्व के द्वीप समुद्रों को घेरे हुए चूड़ी के आकार का है। अर्थात् पहले द्वीप का जितना विस्तार है, उससे दूना विस्तार पहले समुद्र का है। उससे दूना विस्तार दूसरे द्वीप का है और उससे दूना विस्तार दूसरे समुद्र का है। इस तरह द्वीप से दूना विस्तार समुद्र का है और समुद्र से दूना विस्तार आगे के द्वीप का है। तथा जम्बूद्वीप को लवण समुद्र घेरे हुए हैं, लवण समुद्र को धातकीखण्ड घेरे हुए है, धातकीखण्ड को कालोदधि समुद्र घेरे हुए है। इस तरह जम्बूद्वीप के सिवा शेष सब द्वीप और समुद्र चूड़ी के आकार वाले हैं।

आगे जम्बूद्वीप का आकार वगैरह बतलाते हैं—

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजन-शतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः॥९॥

अर्थ—उन सब द्वीप-समुद्रों के बीच में जम्बूद्वीप है। यह जम्बूद्वीप सूर्य मण्डल की तरह गोल है और उसका विस्तार एक लाख योजन है। उसके बीच में मेरुपर्वत है।

विशेषार्थ—उत्तर-कुरु भोगभूमि में एक जम्बूवृक्ष (जामुन का पेड़) है। वह वृक्ष पार्थिव है, हरा-भरा वनस्पतिकायिक नहीं है। इसी से वह अनादिनिधन है। उसी के कारण यह द्वीप जम्बूद्वीप कहा जाता है।

आगे जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र बतलाते हैं—

भरत-हैमवत-हरि-विदेह-रम्यक-हैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥

अर्थ—उस जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत, ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

विशेषार्थ—भरत क्षेत्र के उत्तर में हिमवन् पर्वत है, पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में लवण समुद्र है। भरत क्षेत्र के बीच में विजयार्ध पर्वत है। वह पूर्व-पश्चिम लम्बा है तथा पच्चीस योजन ऊँचा और पचास योजन चौड़ा है। भूमि से दस योजन ऊपर जाने पर उस विजयार्ध पर्वत के दक्षिण तथा उत्तर में दो श्रेणियाँ हैं, जिनमें विद्याधरों के नगर बसे हुए हैं। वहाँ से और दस योजन जाने पर पर्वत के ऊपर दोनों ओर पुनः दो श्रेणियाँ हैं, जिनमें व्यन्तर देव बसते हैं। वहाँ से पाँच योजन ऊपर जाने पर विजयार्ध पर्वत का शिखर तल है, जिस पर अनेक कूट बने हुए हैं। इस पर्वत में दो गुफाएँ हैं, जो आर-पार हैं। हिमवन् पर्वत से गिरकर गंगा-सिन्धु नदी इन्हीं गुफाओं की देहली के नीचे से निकल कर दक्षिण भरत में आती है। विजयार्ध पर्वत तथा इन दोनों नदियों के कारण ही भरत क्षेत्र के छह खण्ड हो गये हैं। तीन खण्ड विजयार्ध के उत्तर में हैं और तीन खण्ड दक्षिण में है।

दक्षिण के तीन खण्डों के बीच का खण्ड आर्य खण्ड कहलाता है। शेष पाँचों म्लेच्छ खण्ड हैं। उक्त गुफाओं के द्वारा ही चक्रवर्ती उत्तर के तीन खण्डों को जीतने जाता और लौटकर वापस आता है। इसी से इस पर्वत का नाम विजयार्ध है क्योंकि इस तक पहुँचने पर चक्रवर्ती की आधी विजय हो जाती है। उत्तर के तीन खण्डों के बीच के खण्ड में वृषभाचल पर्वत है, उस पर चक्रवर्ती अपना नाम खोद देता है।

भरत क्षेत्र की तरह ही अन्त का ऐरावत क्षेत्र भी है। उसमें भी विजयार्ध पर्वत वगैरह हैं। तथा विजयार्ध पर्वत और रक्ता-रक्तोदा नदी के कारण उसके भी छह खण्ड हो गये हैं। सब क्षेत्रों के बीच में विदेहक्षेत्र है। यह क्षेत्र निषध और नीलपर्वत के मध्य स्थित है। वहाँ मनुष्य आत्मध्यान के द्वारा कर्मों को नष्ट करके देह के बन्धन से सदा छूटते रहते हैं। इसी से उसका 'विदेह' नाम पड़ा हुआ है। उस विदेह क्षेत्र के बीच में सुमेरु पर्वत है। सुमेरु के पूर्व दिशा वाले भाग को पूर्व विदेह और पश्चिम दिशा वाले भाग को पश्चिम विदेह कहते हैं। नील पर्वत से निकलकर सीता नदी पूर्व विदेह के मध्य से होकर बहती है और निषध पर्वत से निकलकर सीतोदा नदी पश्चिम विदेह के मध्य से होकर बहती है। इससे इन नदियों के कारण पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह के भी दो-दो भाग हो गये हैं। इस तरह विदेह के चार भाग हैं। प्रत्येक भागों में आठ-आठ उप विभाग हैं। यह प्रत्येक उपविभाग एक-एक स्वतन्त्र देश है। अत: विदेहक्षेत्र में ८×४=३२ देश हैं, वे सब विदेह कहलाते हैं।

सुमेरु पर्वत एक लाख योजन ऊँचा है। जिसमें एक हजार योजन तो पृथ्वी के अन्दर उसकी नींव है और निन्यानवे हजार योजन पृथ्वी के ऊपर उठा हुआ है। उसके चारों ओर पृथ्वी पर भद्रशाल नाम का वन है। उसमें पाँच सौ योजन ऊपर जाने पर सुमेरु पर्वत के चारों ओर की कटनी पर दूसरा नन्दन वन है। नन्दन वन से साढ़े बासठ हजार योजन ऊपर जाकर पर्वत के चारों ओर की कटनी पर तीसरा सौमनस वन है। सौमनस वन से छत्तीस हजार योजन ऊँचाई पर पर्वत का शिखर तल है। उसके बीच में

चालीस योजन ऊँची चूलिका है और चूलिका के चारों ओर पाण्डुक वन है। इस वन में चारों दिशाओं में चार शिलायें हैं। उन शिलाओं पर पूर्व विदेह, पश्चिम विदेह, भरत और ऐरावत क्षेत्र में जन्म लेने वाले तीर्थंकरों का जन्माभिषेक होता है।

आगे इन सात क्षेत्रों का विभाग करने वाले छह पर्वतों का कथन करते हैं–

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्-महाहिमवन्-निषध-नील-रुक्मि-शिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥११॥

अर्थ–उन क्षेत्रों का विभाग करने वाले छह पर्वत हैं, जो पूर्व से पश्चिम तक लम्बे हैं। हिमवन्, महाहिमवन्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी उनके नाम हैं। वर्ष अर्थात् क्षेत्रों के विभाग को बनाये रखने के कारण उन्हें 'वर्षधर' कहते हैं।

विशेषार्थ–भरत और हैमवत क्षेत्र के बीच में हिमवन् पर्वत है, जो सौ योजन ऊँचा है। हैमवत और हरिवर्ष के बीच में महाहिमवन् है, जो दो सौ योजन ऊँचा है। हरिवर्ष और विदेह के बीच में निषध पर्वत है, जो चार सौ योजन ऊँचा है। विदेह और रम्यक क्षेत्र के बीच में नील पर्वत है, जो चार सौ योजन ऊँचा है।

रम्यक और हैरण्यवत के बीच में रुक्मि है, जो दो सौ योजन ऊँचा है और हैरण्यवत तथा ऐरावत के बीच में शिखरी पर्वत है, जो सौ योजन ऊँचा है। ये सभी पर्वत पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक लम्बे हैं।

आगे इन पर्वतों का रंग बतलाते हैं–

हेमार्जुन-तपनीय-वैडूर्य-रजत-हेममयाः ॥१२॥

अर्थ–हिमवन् पर्वत चीन देश की सिल्क की तरह पीतवर्ण है। महाहिमवन् चाँदी की तरह सफेद है। निषध पर्वत तरुण सूर्य की तरह तपाये हुए सोने के समान रंग वाला है। नील पर्वत मोर के कण्ठ की तरह नीला है। रुक्मि पर्वत चाँदी की तरह सफेद है और शिखरी पर्वत चीन देश की सिल्क की तरह पीतवर्ण है।

आगे इन पर्वतों का और भी विशेष वर्णन करते हैं—

मणि-विचित्र-पार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥१३॥

अर्थ— इन पर्वतों के पार्श्वभाग (पखवाड़े), अनेक प्रकार की मणियों से खचित हैं और मूल, मध्य तथा ऊपर इनका विस्तार समान है। अर्थात् मूल से लेकर ऊपर तक एक-सा विस्तार है।

आगे इन पर्वतों पर स्थित तालाबों का वर्णन करते हैं—

पद्म-महापद्म-तिगिञ्छ-केसरि-महापुण्डरीक-पुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥१४॥

अर्थ—उन पर्वतों के ऊपर पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केसरी, महा-पुण्डरीक और पुण्डरीक नाम के ह्रद (तालाब) हैं। अर्थात् हिमवन् पर पद्म, महाहिमवन् पर महापद्म, निषध पर तिगिञ्छ, नील पर केसरी, रुक्मि पर महापुण्डरीक और शिखरी पर पुण्डरीक ह्रद है।

आगे इन तालाबों का विस्तार बतलाते हैं—

प्रथमो योजन-सहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ॥१५॥

अर्थ—पहला पद्म नाम का ह्रद पूर्व पश्चिम एक हजार योजन लम्बा है और उत्तर दक्षिण पाँच सौ योजन चौड़ा है।

अब उसकी गहराई बतलाते हैं—

दशयोजनावगाहः ॥१६॥

अर्थ—पद्म ह्रद की गहराई दश योजन है।

आगे इसका विशेष चित्रण करते हैं—

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥१७॥

अर्थ—उस पद्म ह्रद में एक योजन लम्बा चौड़ा कमल है।

विशेषार्थ—यह कमल वनस्पति काय नहीं है, किन्तु कमल के आकार की पृथ्वी है। उस कमलाकार पृथ्वी के बीच में दो कोस की कर्णिका है और उस कर्णिका के चारों ओर एक एक कोस की पंखुरियाँ

हैं। इससे उसकी लम्बाई चौड़ाई एक योजन है।

आगे के ह्रदों और कमलों का विस्तार बतलाते हैं—

तद्-द्विगुण-द्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥१८॥

अर्थ—आगे के ह्रद और कमल प्रथम ह्रद और कमल से दूने-दूने परिमाण वाले हैं। अर्थात् पद्म ह्रद से दूना महापद्म ह्रद है। महापद्म से दूना तिगिञ्छ ह्रद है। इन ह्रदों में जो कमल हैं, वे भी दूने-दूने परिमाण वाले हैं।

इन कमलों पर निवास करने वाली देवियों का वर्णन करते हैं—

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥१९॥

अर्थ—उन कमलों की कर्णिका पर बने हुए महलों में निवास करने वाली श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये छह देवियाँ हैं। उनकी एक पल्य की आयु है और वे सामानिक एवं पारिषद् जाति के देवों के साथ रहती हैं। अर्थात् बड़े कमल के आस-पास जो और कमलाकार टापू हैं, उन पर बने हुए मकानों में सामानिक और पारिषद् जाति के देव बसते हैं।

अब उक्त क्षेत्र में बहने वाली नदियों का वर्णन करते हैं—

गङ्गासिन्धु-रोहिद्रोहितास्या-हरिद्धरिकान्ता-सीतासीतोदा-नारी-नरकान्ता-सुवर्णरूप्यकूला-रक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥

अर्थ—उन सात, क्षेत्रों के बीच से बहने वाली गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला, रक्तारक्तोदा ये चौदह नदियाँ हैं।

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥

अर्थ— क्रम से एक एक क्षेत्र में दो-दो नदियाँ बहती हैं और उन दो-दो नदियों में से पहली नदी पूर्व समुद्र को जाती है अर्थात् गंगा, रोहित्, हरित्, सीता, नारी, सुवर्णकूला और रक्ता ये सात नदियाँ पूर्व के समुद्र में

जाकर मिलती हैं।

शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥

अर्थ—दो-दो नदियों में से पीछे वाली नदी पश्चिम समुद्र को जाती है। अर्थात् सिन्धु, रोहितास्या, हरिकान्ता, सीतोदा, नरकान्ता, रूप्यकूला और रक्तोदा ये सात नदियाँ पश्चिम समुद्र में जाकर मिलती हैं।

विशेषार्थ—छह ह्रदों से चौदह नदियाँ निकली हैं। उनमें से पहले पद्म ह्रद और छठे पुण्डरीक ह्रद से तीन-तीन नदियाँ निकली हैं और शेष चार से दो-दो नदियाँ निकली हैं। सो पद्मह्रद के पूर्व द्वार से गंगा नदी, पश्चिम द्वार से सिन्धु नदी और उत्तर द्वार से रोहितास्या नदी निकली है। दूसरे महापद्म ह्रद के दक्षिण द्वार से रोहित और उत्तर द्वार से हरिकान्ता नदी निकली है। तीसरे तिगिञ्छ ह्रद के दक्षिण द्वार से हरित् और उत्तरद्वार से सीतोदा नदी निकली है। चौथे केसरी ह्रद के दक्षिण द्वार से सीता और उत्तर द्वार से नरकान्ता नदी निकली है। पाँचवें महापुण्डरीक ह्रद के दक्षिण द्वार से नारी और उत्तर द्वार से रूप्यकूला नदी निकली है। छठवें पुण्डरीक ह्रद के दक्षिण द्वार से सुवर्णकूला, पूर्व द्वार से रक्ता और पश्चिम द्वार से रक्तोदा निकली है।

इन नदियों का परिवार बतलाते हैं—

चतुर्दशनदी-सहस्त्र-परिवृता गङ्गा-सिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥

अर्थ—गंगा और सिन्धु नदी चौदह-चौदह हजार परिवार नदियों से घिरी हुई हैं। इस सूत्र में जो 'नदी' शब्द दिया है, वह यह बतलाने के लिए दिया है कि इन नदियों का परिवार आगे-आगे दूना दूना होता गया है। अतः रोहित् और रोहितास्या की परिवार नदी अट्ठाईस-अट्ठाईस हजार हैं। हरित् और हरिकान्ता की परिवार नदी छप्पन-छप्पन हजार हैं। सीता और सीतोदा की परिवार नदी एक लाख बारह हजार-एक लाख बारह हजार हैं।

अब भरत क्षेत्र का विस्तार बतलाते हैं—

भरतः षड्विंशति-पञ्चयोजन-शत-विस्तारः षट्-चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ॥२४॥

अर्थ—भरतक्षेत्र का विस्तार पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से छह भाग प्रमाण है। यह विस्तार दक्षिण से उत्तर तक है।

अन्य क्षेत्रों का विस्तार बतलाते हैं—

तद्द्विगुण-द्विगुण-विस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥२५॥

अर्थ—आगे के पर्वत और क्षेत्र विदेह क्षेत्र तक भरत क्षेत्र से दूने दूने विस्तार वाले हैं। अर्थात् हिमवन् पर्वत का विस्तार भरत क्षेत्र से दूना है। हिमवन् पर्वत के विस्तार से हैमवत क्षेत्र का विस्तार दूना है। हैमवत क्षेत्र के विस्तार से महाहिमवन् पर्वत का विस्तार दूना है। महाहिमवान् पर्वत से हरिक्षेत्र का विस्तार दूना है। हरिक्षेत्र के विस्तार से निषध पर्वत का विस्तार दूना है और निषध पर्वत से विदेह क्षेत्र का विस्तार दूना है।

आगे के पर्वतों और क्षेत्रों का विस्तार बतलाते हैं—

उत्तरा दक्षिण-तुल्याः ॥२६॥

अर्थ—उत्तर के ऐरावत से लेकर नील तक जितने क्षेत्र और पर्वत हैं, उनका विस्तार वगैरह दक्षिण के भरत आदि क्षेत्रों के समान ही जानना चाहिए। यह नियम दक्षिण भाग का जितना भी वर्णन किया है, उस सबके सम्बन्ध में लगा लेना चाहिए। अतः उत्तर के ह्रद और कमल आदि का विस्तार वगैरह तथा नदियों का परिवार वगैरह दक्षिण के समान ही जानना चाहिए। सारांश यह है कि भरत और ऐरावत, हिमवन् और शिखरी, हैमवत और हैरण्यवत, महाहिमवन् और रूक्मि, हरिवर्ष और रम्यक तथा निषध और नील का विस्तार, इनके ह्रदों और कमलों की लम्बाई-चौड़ाई वगैरह तथा नदियों के परिवार की संख्या परस्पर में समान हैं।

आगे भरत आदि क्षेत्रों में रहने वाले मनुष्यों की स्थिति वगैरह का वर्णन करते हैं—

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥

अर्थ—भरत और ऐरावत क्षेत्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के छह समयों के द्वारा मनुष्यों की आयु, शरीर की ऊँचाई, भोगोपभोग सम्पदा वगैरह घटती और बढ़ती रहती हैं। उत्सर्पिणी में दिनों-दिन बढ़ती हैं और अवसर्पिणी में दिनों-दिन घटती हैं।

विशेषार्थ—सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा और दुषमा-दुषमा ये छह भेद अवसर्पिणी काल के हैं और दुषमा-दुषमा, दुषमा, दुषमा-सुषमा, सुषमा-दुषमा, सुषमा और सुषमा-सुषमा ये छह भेद उत्सर्पिणी काल के हैं। अवसर्पिणी का प्रमाण दस कोटा-कोटी सागर है। इतना ही प्रमाण उत्सर्पिणी काल का है। इन दोनों कालों का एक कल्पकाल होता है।

सुषमा-सुषमा का प्रमाण चार कोड़ा-कोड़ी सागर है। इसके प्रारम्भ में मनुष्यों की दशा उत्तरकुरु भोगभूमि के मनुष्यों के समान रहती है। फिर क्रम से हानि होते होते दूसरा सुषमा काल आता है। वह तीन कोड़ा-कोड़ी सागर तक रहता है। उसके प्रारम्भ में मनुष्यों की दशा हरिवर्ष भोगभूमि के समान रहती है। फिर क्रम से हानि होते होते तीसरा सुषमा-दुषमा काल आता है। ये काल दो कोड़ा-कोड़ी सागर तक रहता है। इसके प्रारम्भ में मनुष्यों की दशा हैमवतक्षेत्र भोगभूमि के समान रहती है। फिर क्रम से हानि होते-होते चौथा दुषमा-सुषमा काल आता है। यह काल बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर तक रहता है। उसके प्रारम्भ में मनुष्यों की दशा विदेह क्षेत्र के मनुष्यों के समान रहती है। फिर क्रम से हानि होते-होते पाँचवाँ दुषमा काल आता है, जो इक्कीस हजार वर्ष तक रहता है, यह इस समय चल रहा है। इसके बाद छठा दुषमा-दुषमा काल आता है। यह भी इक्कीस हजार वर्ष रहता है। इस छठे काल के अन्त में भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड में प्रलय काल आता है। इसमें वायु और वर्षा के वेग से पहाड़ तक चूरचूर हो जाते हैं। मनुष्य मर जाते हैं। बहुत से मनुष्य-युगल

पर्वतों की कन्दराओं में छिपकर अपनी रक्षा कर लेते हैं। विष और आग की वर्षा से एक योजन नीचे तक भूमि चूर्ण हो जाती है। उसके बाद उत्सर्पिणी काल आता है। उसके आरम्भ में सात सप्ताह तक सुवृष्टि होती है। उससे पृथ्वी की गर्मी शान्त हो जाती है और लता वृक्ष वगैरह उगने लगते हैं। तब इधर-उधर छिपे हुए मनुष्य युगल अपने-अपने स्थानों से निकल कर पृथ्वी पर बसने लगते हैं। इस तरह उत्सर्पिणी का प्रथम अति दुषमा काल बीत जाने पर दूसरा दुषमा काल आ जाता है। इस काल के बीस हजार वर्ष बीतने पर जब एक हजार वर्ष शेष रहते हैं तो कुलकर पैदा होते हैं जो मनुष्यों को कुलाचार की तथा खाना पकाने वगैरह की शिक्षा देते हैं। इसके बाद तीसरा दुषमा-सुषमा काल आता है। इसमें तीर्थंकर वगैरह उत्पन्न होते हैं। इसके बाद उत्सर्पिणी के चौथे काल में जघन्य भोगभूमि, पाँचवें में मध्यम भोगभूमि और छठे में उत्कृष्ट भोगभूमि रहती है। उत्सर्पिणी काल समाप्त होने पर पुनः अवसर्पिणी काल प्रारम्भ हो जाता है। उसके प्रथम काल में उत्कृष्ट भोगभूमि, दूसरे में मध्यम भोगभूमि तथा तीसरे में जघन्य भोगभूमि रहती है। और चौथे से कर्मभूमि प्रारम्भ हो जाती है।

आगे शेष क्षेत्रों की दशा बतलाते हैं—

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥

अर्थ— भरत और ऐरावत के सिवा अन्य क्षेत्र अवस्थित हैं। उनमें सदा एक-सी ही दशा रहती है; हानि-वृद्धि नहीं होती।

इन क्षेत्रों के मनुष्यों की आयु बतलाते हैं—

एक—द्वि-त्रि-पल्योपम-स्थितयो हैमवतक-हारि-वर्षक-दैवकुरवकाः ॥२९॥

अर्थ—हैमवत क्षेत्र के मनुष्यों की आयु एक पल्य की है। हरिवर्ष क्षेत्र के मनुष्यों की आयु दो पल्य की है। और देवकुरु के मनुष्यों की आयु तीन पल्य की है।

विशेषार्थ—इन तीनों क्षेत्रों में सदा भोगभूमि रहती है। भोगभूमि के मनुष्य सदा युवा रहते हैं। उन्हें कोई रोग नहीं होता और न मरते समय कोई वेदना ही होती है। बस पुरुषों को जंभाई और स्त्री को छींक आती है और उसी से उनका मरण हो जाता है। मरण होने पर उनका शरीर कपूर की तरह उड़ जाता है। भोगभूमि में न पुण्य होता है और न पाप। हाँ, किन्हीं को सम्यक्त्व अवश्य होता है। मरण होने पर सम्यग्दृष्टि तो सौधर्म या ईशान स्वर्ग में देव होते हैं और मिथ्यादृष्टि भवनत्रिक में जन्म लेते हैं। वहाँ के पशु भी मरकर देव होते हैं। उनमें परस्पर में ईर्ष्या द्वेष नहीं होता। सूर्य की गर्मी पृथ्वी तक न आ सकने के कारण वर्षा भी नहीं होती। कल्पवृक्षों के द्वारा प्राप्त वस्तुओं से ही मनुष्य अपना जीवन निर्वाह सानन्द करते हैं। वहाँ न कोई स्वामी है और न सेवक, न कोई राजा है न प्रजा। प्राकृतिक साम्यवाद का सुख सभी भोगते हैं।

अब उत्तर जम्बूद्वीपों के क्षेत्रों की स्थिति बतलाते हैं—

तथोत्तराः ॥३०॥

अर्थ—दक्षिण जम्बूद्वीप के क्षेत्रों की जैसी स्थिति है, वैसी ही उत्तर जम्बूद्वीप के क्षेत्रों की जाननी चाहिए। अर्थात् हैरण्यवत क्षेत्र के मनुष्यों की स्थिति हैमवत क्षेत्र के मनुष्यों के समान है। रम्यक क्षेत्र के मनुष्यों की स्थिति हरिवर्ष क्षेत्र के मनुष्यों के समान है। और उत्तरकुरु के मनुष्यों की स्थिति देवकुरु के मनुष्यों के समान है।

आगे विदेहक्षेत्र की स्थिति बतलाते हैं—

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥३१॥

अर्थ—पाँचों मेरु सम्बन्धी पाँच विदेह क्षेत्रों में मनुष्यों की आयु संख्यात वर्ष की होती है।

विशेषार्थ—पाँचों विदेहों में सदा सुषमादुषमा काल की सी दशा रहती है। मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई अधिक से अधिक पाँच सौ धनुष होती है। प्रतिदिन भोजन करते हैं। उत्कृष्ट आयु एक कोटी पूर्व की है।

और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त की है। पूर्व का प्रमाण इस प्रकार कहा है– चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वांग होता है और चौरासी लाख पूर्वांग का एक पूर्व होता है। अतः चौरासी लाख को चौरासी लाख से गुणा करने पर ७०५६०००००००००० संख्या आती है; इतने वर्षों का एक पूर्व होता है। ऐसे एक कोटिपूर्व की आयु कर्मभूमि में होती है।

आगे दूसरी तरह से भरतक्षेत्र का विस्तार बतलाते हैं–

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

अर्थ– जम्बूद्वीप का विस्तार एक लाख योजन है। उसमें एक सौ नब्बे का भाग देने पर एक भाग प्रमाण भरतक्षेत्र का विस्तार है। जो पहले बतलाया है।

विशेषार्थ–पहले भरतक्षेत्र का विस्तार पाँच सौ छब्बीस सही ६/१९ योजन बतलाया गया है। सो जम्बूद्वीप के एक लाख योजन विस्तार का एक सौ नब्बेवां भाग है। क्योंकि जम्बूद्वीप सात क्षेत्रों और छह पर्वतों में बँटा हुआ है। उसमें भरत का एक भाग, हिमवन् के दो भाग, हैमवत के चार भाग, महाहिमवन् के आठ भाग, हरिवर्ष के सोलह भाग, निषध पर्वत के बत्तीस भाग, विदेह के चौंसठ भाग, नील पर्वत के बत्तीस भाग, रम्यक के सोलह भाग, रुक्मी पर्वत के आठ भाग, हैरण्यवत क्षेत्र के चार भाग, शिखरी पर्वत के दो भाग और ऐरावत का एक भाग है। इन सब भागों का जोड़ १९० होता है। इस तरह जम्बूद्वीप का वर्णन समाप्त हुआ। जम्बूद्वीप को घेरे हुए लवण समुद्र है। उसका विस्तार सब ओर दो लाख योजन है। लवण समुद्र को घेरे हुए धातकी खण्ड नाम का द्वीप है। उसका विस्तार सब ओर चार लाख योजन है।

आगे धातकी खण्ड द्वीप की रचना बतलाते हैं–

द्विर्धातकीखण्डे ॥३३॥

अर्थ–धातकी खण्ड द्वीप में भरत आदि क्षेत्र दो-दो हैं।

विशेषार्थ–धातकी खण्ड की दक्षिण दिशा और उत्तर दिशा में दो

इष्वाकार पर्वत हैं। वे दोनों पर्वत इषु यानि बाण की तरह सीधे और दक्षिण से उत्तर तक लम्बे हैं। उनकी लम्बाई द्वीप के बराबर यानि चार लाख योजन है। इसी से वे एक ओर लवण समुद्र को छूते हैं तो दूसरी ओर कालोदधि समुद्र को छूते हैं। उनके कारण धातकी खण्ड के दो भाग हो गये हैं– एक पूर्व भाग, दूसरा पश्चिम भाग। दोनों भागों के बीच में एक-एक मेरु पर्वत है। और उनके दोनों ओर भरत आदि क्षेत्र तथा हिमवन् आदि पर्वत हैं।

इस तरह वहाँ दो भरत, दो हिमवन् आदि हैं। उनकी रचना गाड़ी के पहिये की तरह है। जैसे गाड़ी के पहिये में जो डंडे लगे रहते हैं, जिन्हें अर कहते हैं, उनके समान तो हिमवन् आदि पर्वत हैं। वे पर्वत सर्वत्र समान विस्तार वाले हैं। और अरों के बीच में जो खाली स्थान होता है, उसके समान भरत आदि क्षेत्र हैं। वे क्षेत्र कालोदधि के पास में अधिक चौड़े हैं और लवण समुद्र के पास में कम चौड़े हैं। जम्बूद्वीप में जिस स्थान पर जामुन का पार्थिव वृक्ष है, धातकीखण्ड में उसी स्थान पर धातकी (धतूरा) का एक विशाल पार्थिव वृक्ष है। उसके कारण द्वीप का नाम धातकी खण्ड पड़ा है। धातकीखण्ड को घेरे हुए कालोदधि समुद्र है। उसका विस्तार आठ लाख योजन है और कालोदधि को घेरे हुए पुष्करवर द्वीप है। उसका विस्तार सोलह लाख योजन हैं।

आगे पुष्करवर द्वीप का वर्णन करते हैं—

पुष्करार्द्धे च ॥३४॥

अर्थ—आधे पुष्करवर द्वीप में भी भरत आदि क्षेत्र तथा हिमवन् आदि पर्वत दो-दो हैं।

विशेषार्थ—पुष्करवर द्वीप के बीच में चूड़ी के आकार का एक मानुषोत्तर पर्वत पड़ा हुआ है। उसके कारण द्वीप के दो भाग हो गये हैं। इसी से आधे पुष्करवर द्वीप में ही भरत आदि की रचना बतलायी है। पुष्करार्ध में दक्षिण और उत्तर दिशा में दो इष्वाकार पर्वत हैं, जो एक ओर

कालोदधि को छूते हैं तो दूसरी ओर मानुषोत्तर पर्वत को छूते हैं। इससे द्वीप के दो भाग हो गये हैं– एक पूर्व पुष्करार्ध और दूसरा पश्चिम पुष्करार्ध। दोनों भागों के बीच में एक-एक मेरु पर्वत है। और उनके दोनों ओर भरत आदि क्षेत्र व पर्वत हैं। जहाँ जम्बूद्वीप में जम्बूवृक्ष है, वहीं पुष्करार्ध में परिवार सहित पुष्कर वृक्ष है। उसी से द्वीप का नाम पुष्कर द्वीप पड़ा है।

अब बतलाते हैं कि भरत आदि क्षेत्रों की रचना आधे ही पुष्कर द्वीप में क्यों है? समस्त पुष्कर द्वीप में क्यों नहीं है?

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥३५॥

अर्थ– मानुषोत्तर पर्वत से पहले ही मनुष्य पाये जाते हैं अर्थात् जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड और आधे पुष्कर द्वीप पर्यन्त ही मनुष्यों का आवास है। इन अढ़ाई द्वीपों से बाहर कोई भी ऋद्धिधारी या विद्याधर मनुष्य तक नहीं जा सकता। इसी से मानुषोत्तर पर्वत के बाहर के द्वीपों में क्षेत्र वगैरह की रचना भी नहीं पायी जाती है।

आगे मनुष्यों के दो भेद बतलाते हैं–

आर्या म्लेच्छाश्च ॥३६॥

अर्थ– मनुष्य दो प्रकार के हैं–आर्य और म्लेच्छ।

विशेषार्थ– आर्य मनुष्य भी दो प्रकार के हैं– एक ऋद्धिधारी और दूसरे बिना ऋद्धि वाले। जो आठ प्रकार की ऋद्धियों में से किसी एक ऋद्धि के धारी होते हैं, उन्हें ऋद्धिप्राप्त आर्य कहते हैं। और जिनको कोई ऋद्धि प्राप्त नहीं है, वे बिना ऋद्धि वाले आर्य कहलाते हैं। बिना ऋद्धि वाले आर्य पाँच प्रकार के होते हैँ– क्षेत्र आर्य, जाति आर्य, कर्म आर्य, चारित्र आर्य और दर्शन आर्य। काशी कोशल आदि आर्य क्षेत्रों में जन्म लेने वाले मनुष्य क्षेत्र-आर्य हैं। इक्ष्वाकु, भोज, आदि वंशों में जन्म लेने वाले मनुष्य जाति आर्य हैं। कर्म आर्य तीन प्रकार के होते हैं–

सावद्य-कर्म-आर्य, अल्प सावद्य-कर्म-आर्य और असावद्य कर्म-आर्य। सावद्य कर्म आर्य छह प्रकार के होते हैं। जो तलवार आदि अस्त्र

शस्त्रों के द्वारा रक्षा अथवा युद्ध आदि करने की जीविका करते हैं, वे असिकर्म आर्य हैं। जो आयव्यय आदि लिखने की आजीविका करते हैं, वे मसिकर्म आर्य हैं। जो खेती के द्वारा आजीविका करते हैं, वे कृषिकर्म आर्य हैं। जो विविध कलाओं में प्रवीण हैं और उनसे ही आजीविका करते हैं वे विद्याकर्म आर्य हैं। धोबी, नाई, कुम्हार, लुहार, सुनार वगैरह शिल्पकर्म आर्य हैं। वणिज्/व्यापार करने वाले वणिक्-कर्म आर्य हैं। ये छहों सावद्य कर्मार्य होते हैं। उनमें जो अणुव्रती श्रावक होते हैं, वे अल्प सावद्य कर्मार्य होते हैं। और पूर्ण संयमी साधु असावद्य कर्मार्य होते हैं। चारित्र आर्य दो प्रकार के होते हैं– एक, जो बिना उपदेश के स्वयं ही चारित्र का पालन करते हैं और दूसरे, जो पर के उपदेश से चारित्र का पालन करते हैं। सम्यग्दृष्टि मनुष्य दर्शन आर्य हैं। ऋद्धि प्राप्त आर्यों के भी आठ प्रकार की ऋद्धियों के अवांतर भेदों की अपेक्षा से बहुत से भेद हैं। जो विस्तार के भय से यहाँ नहीं लिखे हैं। म्लेच्छ दो प्रकार के होते हैं– अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज। लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र के भीतर जो छयानवे द्वीप हैं, उनके वासी मनुष्य अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहे जाते हैं। उनकी आकृति आहार विहार सभी असंस्कृत होता है। तथा म्लेच्छ खण्डों के अधिवासी मनुष्य कर्मभूमिज म्लेच्छ कहे जाते हैं। आर्य खण्ड में भी जो भील आदि जंगली जातियाँ बसती हैं, वे भी म्लेच्छ ही हैं।

अब कर्मभूमियाँ बतलाते हैं

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥३७॥

अर्थ–पाँच भरत, पाँच ऐरावत और देवकुरु तथा उत्तर कुरु के सिवा शेष पाँच विदेह, ये पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं। पाँच हैमवत, पाँच हरिवर्ष, पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु, पाँच रम्यक्, पाँच हैरण्यवत्; ये तीस भोगभूमियाँ हैं। इनमें से दस उत्कृष्ट भोगभूमि हैं, दस मध्यम हैं और दस जघन्य हैं। इनमें दस प्रकार के कल्पवृक्षों के द्वारा प्राप्त भोगों का ही प्राधान्य होने से इन्हें भोगभूमि कहते हैं। तथा भरतादिक पन्द्रह कर्मभूमि-

क्षेत्रों में बड़े से बड़ा पाप कर्म और बड़े से बड़ा पुण्य कर्म अर्जित किया जा सकता है, जिससे जीव मरकर सातवें नरक में और सर्वार्थसिद्धि में भी जा सकता है। तथा इन क्षेत्रों में षट् कर्मों के द्वारा आजीविका की जाती है। इसलिए कर्म की प्रधानता होने से इन्हें कर्मभूमि कहते हैं।

आगे मनुष्यो की आयु बतलाते है—

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥३८॥

अर्थ—मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है।

विशेषार्थ—प्रमाण दो प्रकार का होता है–एक संख्या रूप दूसरा उपमा रूप। जिसका आधार एक, दो आदि संख्या होती है, उसे संख्याप्रमाण कहते हैं। और जो संख्या के द्वारा न गिना जाकर किसी उपमा के द्वारा आंका जाता है, उसे उपमा प्रमाण कहते हैं। उसी का भेद पल्य है। पल्य गड्ढे को कहते हैं। उसमें तीन भेद हैं – व्यवहार पल्य, उद्धार पल्य, अद्धा पल्य। एक योजन लम्बा चौड़ा और एक योजन गहरा गोल गड्ढ़ा खोदो। एक दिन से लेकर सात दिन तक के जन्में हुए भेड़ के बालों के अग्रभागों को कैंची से इतना बारीक काटो कि फिर उन्हें काट सकना सम्भव न हो। उन बालों के टुकड़ों से उस गड्ढे को खूब ठोक कर मुँह तक भर दो। उसे व्यवहार पल्य कहते हैं। इस व्यवहार पल्य के रोमों में से सौ सौ वर्ष के बाद एक एक रोम निकालने पर जितने काल में वह गड्ढा रोमों से खाली हो जाये, उतने काल को व्यवहार पल्योपम काल कहते हैं। व्यवहार पल्य के रोमों में से प्रत्येक रोम के बुद्धि के द्वारा इतने टुकड़े करो जितने असंख्यात कोटि वर्ष के समय होते हैं। और फिर उन रोमों के एक योजन लम्बे चौड़े और एक योजन गहरे गड्ढे को भर दो। उसे उद्धार पल्य कहते हैं। उसमें से प्रतिसमय एक–एक रोम निकालने पर जितने काल में वह गड्ढा रोमों से शून्य हो जाये, उतने काल को उद्धार पल्योपम कहते हैं। उद्धार पल्य के रोमों में से प्रत्येक रोम के कल्पना के द्वारा पुनः इतने टुकड़े करो जितने सौ वर्ष के समय होते हैं। और उन रोमों से पुनः उक्त विस्तार वाले गड्ढे को भर

दो। उसे अद्धापल्य कहते हैं। उस अद्धापल्य के रोमों में से प्रति समय एक एक रोम निकालने पर जितने काल में गड्ढा खाली हो, उतने काल को अद्धा पल्योपम कहते हैं। इन तीन पल्यों में से पहला व्यवहार पल्य तो केवल दो पल्यों के निर्माण का मूल है, उसी के आधार पर उद्धार पल्य और अद्धा पल्य बनते हैं। इसी से उसे व्यवहार पल्य का नाम दिया गया है। उद्धार पल्य के रोमों के द्वारा द्वीप और समुद्रों की संख्या गिनी जाती है। और अद्धा पल्य के द्वारा नारकियों की, तिर्यञ्चों की, देवों और मनुष्यों की आयु कर्मों की स्थिति आदि जानी जाती है। इसी से इसे अद्धापल्य कहते हैं, क्योंकि 'अद्धा' नाम काल का है। दस कोड़ा कोड़ी अद्धा पल्य का एक अद्धा सागर होता है और दस अद्धा सागर का एक अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी काल होता है।

अब तिर्यञ्चों की स्थिति बतलाते हैं–

तिर्यग्योनिजानां च ॥३९॥

अर्थ– तिर्यञ्चों की भी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

विशेषार्थ– तिर्यञ्च तीन प्रकार के होते हैं– एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। एकेन्द्रियों में शुद्ध पृथ्वीकायिक जीवों की आयु बारह हजार वर्ष होती है। खर पृथ्वीकाय की आयु बाईस हजार वर्ष होती है। जलकायिक जीवों की आयु सात हजार वर्ष, वायुकायिक की तीन हजार वर्ष और वनस्पतिकायिक की दस हजार वर्ष उत्कृष्ट आयु होती है। अग्निकायिक की आयु तीन दिन रात होती है। विकलेन्द्रियों में, दो इन्द्रियों की उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष, तेइन्द्रियों की उनचास रात दिन और चौइन्द्रियों की छह मास होती है। पञ्चेन्द्रियों में जलचर जीवों की उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि, गोधा/नकुल वगैरह की नौ पूर्वांग, सर्पों की बयालीस हजार वर्ष, पक्षियों की बहत्तर हजार वर्ष और चौपायों की तीन पल्य होती है। तथा सभी की जघन्य आयु एक अन्तर्मुहूर्त की होती है।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अब देवों का वर्णन करते हैं—

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥१॥

अर्थ—निकाय समूह को कहते हैं। देवों के चार निकाय यानि समूह हैं भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

देवों की लेश्या बतलाते हैं—

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥२॥

अर्थ—भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क इन तीन निकायों में कृष्ण, नील, कापोत और पीत–ये चार लेश्याएँ होती हैं।

इन निकायों में अवान्तर भेद बतलाते हैं—

दशाष्ट-पञ्च-द्वादश-विकल्पाः कल्पोपन्नपर्यन्ताः ॥३॥

अर्थ— भवनवासी देवों के दस भेद हैं, व्यन्तरों के आठ भेद हैं, ज्योतिषी देवों के पाँच भेद हैं और वैमानिक देवों में से जो कल्पोपन्न अर्थात् सोलह स्वर्गों के वासी देव हैं, उनके बारह भेद हैं।

देवों के विषय में और भी कहते हैं—

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥४॥

अर्थ—देवों के प्रत्येक निकाय में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक के दस दस भेद होते हैं।

विशेषार्थ—अन्य देवों में न पायी जाने वाली अणिमा आदि ऋद्धियों के द्वारा जो परम ऐश्वर्य को भोगता है, देवों के उस स्वामी को इन्द्र कहते हैं। जिनकी आयु, शक्ति, परिवार तथा भोगोपभोग वगैरह इन्द्र के समान ही होते हैं, किन्तु जो आज्ञा और ऐश्वर्य से हीन होते हैं, उन्हें सामानिक कहते

हैं। ये पिता, गुरु या उपाध्याय के समान माने जाते हैं। मन्त्री और पुरोहित के समान जो देव होते हैं, उन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं। इनकी संख्या तैंतीस होती है, इसी से इन्हें 'त्रायस्त्रिंश' कहा जाता है। इन्द्र की सभा के सदस्य देवों को पारिषद् कहते हैं। इन्द्र की सभा में जो देव शस्त्र लिये इन्द्र के पीछे खड़े होते हैं, उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं। यद्यपि इन्द्र को किसी शत्रु का भय नहीं है, फिर भी ये ऐश्वर्य का द्योतक है। कोतवाल के तुल्य देवों को लोकपाल कहते हैं। पैदल, अश्व, वृषभ, रथ, हाथी, गन्धर्व और नर्तकी इस सात प्रकार की सेना के देव अनीक कहे जाते हैं। पुरवासी या देशवासी जनता के समान देवों को प्रकीर्णक (प्रजाजन) कहते हैं। हाथी, घोड़ा, सवारी वगैरह बनकर जो देव दास के समान सेवा करते हैं, उन्हें आभियोग्य कहते हैं। चाण्डाल की तरह दूर ही रहने वाले पापी देवों को किल्विषिक कहते हैं। ये दस भेद प्रत्येक निकाय में होते हैं।

उक्त कथन में थोड़ा अपवाद है, जो बतलाते हैं—

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥५॥

अर्थ—व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते। शेष आठ भेद ही होते हैं।

अब इन्द्र का नियम बतलाते हैं—

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥६॥

अर्थ—पहले की दो निकायों में दो-दो इन्द्र होते हैं अर्थात् दस प्रकार के भवनवासियों के बीस इन्द्र हैं और आठ प्रकार के व्यन्तरों के सोलह इन्द्र हैं। इस तरह प्रत्येक निकाय के प्रत्येक भेद में दो-दो इन्द्र होते हैं।

देवों के कामसेवन का प्रकार बतलाते हैं—

कायप्रवीचारा आ ऐशानात्॥७॥

अर्थ— मैथुनसेवन का नाम प्रवीचार है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क

देव और सौधर्म तथा ऐशान स्वर्ग के देव अपनी-अपनी देवांगनाओं के साथ मनुष्य की तरह शरीर से मैथुनसेवन करते हैं।

शेष स्वर्गों के देवों के विषय में कहते हैं—

शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनः प्रवीचाराः॥८॥

अर्थ—शेष स्वर्गों के देव स्पर्श, रूप, शब्द और मन से ही मैथुनसेवन करते हैं। अर्थात् सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देव अपनी-अपनी देवियों के आलिंगन मात्र से ही परम सन्तुष्ट हो जाते हैं। यही बात देवियों की भी है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव और कापिष्ठ स्वर्ग के देव अपनी-अपनी देवियों के सुन्दर रूप, शृंगार, विलास वगैरह के देखने मात्र से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्ग के देव अपनी-अपनी देवियों के मधुर गीत, कोमल हास्य, मीठे वचन तथा आभूषणों का शब्द सुनने से ही तृप्त हो जाते हैं। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग के देव अपनी-अपनी देवियों का मन में चिन्तन कर लेने से ही शान्त हो जाते हैं।

सोलह स्वर्गों से ऊपर के देवों में किस प्रकार का सुख है, यह बतलाते हैं—

परेऽप्रवीचाराः॥९॥

अर्थ— यहाँ 'पर' शब्द से समस्त कल्पातीत देवों का ग्रहण किया गया है। अतः अच्युत स्वर्ग से ऊपर नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तरों में रहने वाले अहमिन्द्र देवों में कामसेवन नहीं है, क्योंकि वहाँ देवांगनाएँ नहीं होतीं। अतः काम-भोगरूप वेदना के न होने से ऊपर के देव परम सुखी हैं।

अब भवनवासी देवों के दस भेद बतलाते हैं—

भवनवासिनोऽसुर-नाग-विद्युत्सुपर्णाग्निवात-स्तनितोदधि-द्वीप-दिक्कुमाराः ॥१०॥

अर्थ—जो देव भवनों में निवास करते हैं, उन्हें भवनवासी कहते हैं।

भवनवासी देव–दस प्रकार के होते हैं–असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार॥

विशेषार्थ—यद्यपि सभी देवों की जन्म से लेकर मरण तक एक-सी अवस्था रहती है। अतः अवस्था से सभी कुमार हैं। किन्तु भवनवासी देवों की वेषभूषा, अस्त्र–शस्त्र, बातचीत, खेलना–कूदना वगैरह कुमारों की तरह ही होता है, इसलिए इनको कुमार कहते हैं। उक्त रत्नप्रभा पृथ्वी के पंकबहुल भाग में असुरकुमारों के भवन बने हुए हैं और उसी के खरभाग में बाकी के नौ कुमारों के भवन हैं। उन्हीं में ये रहते हैं। इसी से इन्हें भवनवासी कहते हैं।

अब व्यन्तर देवों के आठ भेद बतलाते हैं—

व्यन्तराः किन्नर-किंपुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः ॥११॥

अर्थ—अनेक स्थानों पर जिनका निवास है, उन देवों को व्यन्तर कहते हैं। व्यन्तरों के आठ भेद हैं– किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।

विशेषार्थ—वैसे तो उक्त रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग में राक्षसों के सिवा शेष सात प्रकार के व्यन्तरों का आवास है और पंकबहुल भाग में राक्षसों का आवास है, किन्तु पृथ्वी के ऊपर अनेक द्वीप, पर्वत, समुद्र, गाँव, नगर, देवालय, चौराहे वगैरह में भी इनका स्थान बतलाया है। इसी से विविध स्थानों के निवासी होने के कारण उन्हें व्यन्तर कहते हैं।

अब ज्योतिष्क देवों के भेद कहते हैं—

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णक-तारकाश्च ॥१२॥

अर्थ— ज्योतिष्क देव पाँच प्रकार के होते हैं– सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह,

नक्षत्र और सर्वत्र फैले हुए तारे। चूँकि ये सब चमकीले होते हैं, इसलिए इन्हें ज्योतिष्क कहते हैं।

विशेषार्थ—सूर्य और चन्द्रमा का प्राधान्य बतलाने के लिए उन्हें सूत्र में अलग से रखा गया है, क्योंकि ग्रह वगैरह से उनका प्रभाव वगैरह अधिक है। इनमें चन्द्रमा इन्द्र है और सूर्य प्रतीन्द्र है। ये सब ज्योतिष्क देव मध्यलोक में रहते हैं। धरातल से सात सौ नब्बे योजन ऊपर तारे विचरण करते रहते हैं। वे सब ज्योतिष्क देवों के नीचे हैं। तारों से दस योजन ऊपर सूर्य का विमान है। सूर्य से अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा है। चन्द्रमा से चार योजन ऊपर नक्षत्र हैं। नक्षत्रों से चार योजन ऊपर बुध का विमान है। बुध से तीन योजन ऊपर शुक्र का विमान है। शुक्र से तीन योजन ऊपर बृहस्पति है। बृहस्पति से तीन योजन ऊपर मंगल है और मंगल से तीन योजन ऊपर शनि है। इस तरह एक सौ दस योजन की मोटाई में सब ज्योतिषी देव रहते हैं तथा तिर्यक् रूप से घनोदधि वातवलय तक फैले हुए हैं।

ज्योतिष्क देवों का गमन बतलाते हैं—

मेरु प्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१३॥

अर्थ—ज्योतिषी देव मनुष्यलोक में मेरु की प्रदक्षिणा रूप से सदा गमन करते रहते हैं।

विशेषार्थ—अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रों को मनुष्यलोक कहते हैं। मनुष्यलोक के ज्योतिषी देव मेरु से ग्यारह सौ इक्कीस योजन दूर रहकर उसके चारों ओर सदा घूमते रहते हैं। जम्बूद्वीप में दो, लवण समुद्र में चार, धातकीखंड में बारह, कालोदधि में बयालीस और पुष्करार्ध में बहत्तर चन्द्रमा हैं और एक चन्द्रमा के परिवार में एक सूर्य, अठासी ग्रह, अठाईस नक्षत्र और छियासठ हजार नौ सौ पचहत्तर कोड़ा कोड़ी तारे होते हैं।

ज्योतिषी देवों के गमन से ही काल का व्यवहार होता है, यह बतलाते हैं—

तत्कृतः कालविभागः ॥१४॥

अर्थ—उन ज्योतिषी देवों के गमन से काल का विभाग होता है।

विशेषार्थ—काल दो प्रकार का है—व्यवहार काल और निश्चय काल। सैकेंड, मिनट, घड़ी, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास वगैरह को व्यवहार काल कहते हैं। ये व्यवहार काल सूर्य-चन्द्रमा की गति से ही जाना जाता है तथा इसी से निश्चयकाल का बोध होता है, जिसका वर्णन आगे पाँचवें अध्याय में किया गया है।

मनुष्यलोक के बाहर ज्योतिषी देवों की स्थिति बतलाते हैं—

बहिरवस्थिताः ॥१५॥

अर्थ—मनुष्यलोक के बाहर ज्योतिषी देव अवस्थित हैं—गमन नहीं करते हैं।

शंका—मनुष्यलोक में ज्योतिषी देवों के नित्य गमन बतलाने से ही यह ज्ञात हो जाता है कि बाहर के ज्योतिषी देव गमन नहीं करते। फिर इस बात को बतलाने के लिए 'बहिरवस्थिताः' सूत्र बनाना व्यर्थ है?

समाधान—यह सूत्र व्यर्थ नहीं है, क्योंकि मनुष्यलोक से बाहर ज्योतिषीदेवों का अस्तित्व ही अभी सिद्ध नहीं है। अतः मनुष्यलोक से बाहर भी ज्योतिषी देव हैं और वे चलते नहीं हैं, ये दोनों बातें बतलाने के लिए ही 'बहिरवस्थिताः' सूत्र कहा है।

तीन निकायों का वर्णन करके अब चौथी निकाय का वर्णन करते हैं—

वैमानिकाः ॥१६॥

अर्थ—जिसमें रहने वाले जीव विशेष रूप से पुण्यशाली माने जाते हैं, उन्हें विमान कहते हैं और विमानों में जो देव उत्पन्न होते हैं, उन्हें वैमानिक कहते हैं।

विशेषार्थ—यह सूत्र अधिकार सूचक है। यह बतलाता है कि आगे वैमानिक देवों का वर्णन किया जायेगा। विमान तीन प्रकार के होते हैं— इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और पुष्प प्रकीर्णक। जो विमान इन्द्र की तरह अन्य विमानों के बीच में रहता है, उसे इन्द्रक विमान कहते हैं। उसकी चारों दिशाओं में कतारबद्ध जो विमान होते हैं, वे श्रेणीबद्ध कहे जाते हैं और

विदिशाओं में जहाँ तहाँ बिखरे फूलों की तरह जो विमान होते हैं, उन्हें पुष्प प्रकीर्णक विमान कहते हैं।

आगे वैमानिक देवों के भेद कहते हैं—

कल्पोपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥

अर्थ—वैमानिक देवों के दो भेद हैं—कल्पोपन्न और कल्पातीत। जहाँ इन्द्र आदि की कल्पना होती है। उन सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं। और जहाँ इन्द्र आदि की कल्पना नहीं होती, उन ग्रैवेयक वगैरह को कल्पातीत कहते हैं।

इनकी अवस्थिति बतलाते हैं—

उपर्युपरि ॥१८॥

अर्थ—ये कल्प आदि ऊपर-ऊपर हैं।

अब उन कल्प आदि का नाम बतलाते हैं, जिनमें वैमानिक देव रहते हैं—

सौधर्मैशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-लान्तव-कापिष्ठ-शुक्र-महाशुक्र-शतार-सहस्त्रारेष्वानतप्राणतयो-रारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्त-जयन्ता-पराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

अर्थ—सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्त्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत-इन सोलह स्वर्गों में, इनके ऊपर नौ ग्रैवेयकों में, नौ अनुदिशों में और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तर विमानों में वैमानिक देव रहते हैं।

विशेषार्थ—भूमितल से निन्यानवे हजार चालीस योजन ऊपर जाने पर सौधर्म और ऐशान कल्प आरम्भ होता है। उसके प्रथम इन्द्रक विमान का नाम ऋतु है। वह ऋतु विमान सुमेरु पर्वत के ठीक ऊपर एक बाल के अग्रभाग का अन्तराल देकर ठहरा हुआ है। उसका विस्तार ढाई द्वीप के

बराबर पैंतालीस लाख योजन है। उसके चारों दिशाओं में बासठ पंक्तिबद्ध विमान हैं और विदिशाओं में बहुत से प्रकीर्णक विमान हैं। उसके ऊपर असंख्यात योजन का अन्तराल देकर दूसरा पटल है। उसमें भी बीच में एक इन्द्रक विमान है। उसके चारों दिशाओं में इकसठ इकसठ श्रेणीबद्ध विमान हैं और विदिशाओं में प्रकीर्णक विमान हैं। इस तरह असंख्यात असंख्यात योजन का अन्तराल देकर डेढ़ राजु की ऊँचाई में इकतीस पटल हैं। इन इकतीस पटलों के पूरब, पश्चिम और दक्षिण दिशा के श्रेणीबद्ध विमान तथा इन्द्रक और पूरब दक्षिण दिशा के और दक्षिण पश्चिम दिशा के श्रेणीबद्धों के बीच में जो प्रकीर्णक हैं, वे सौधर्म स्वर्ग में गिने जाते हैं। और उत्तर दिशा के श्रेणीबद्ध तथा पश्चिम-उत्तर और उत्तर-पूर्व दिशा के श्रेणीबद्धों के बीच के प्रकीर्णक ऐशान स्वर्ग में गिने जाते हैं। इकतीसवें पटल से ऊपर असंख्यात योजन का अन्तराल देकर सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प प्रारम्भ हो जाते हैं। उनके सात पटल हैं, जो डेढ़ राजु की ऊँचाई में हैं। यहाँ भी तीन दिशाओं की गिनती सानत्कुमार स्वर्ग में और उत्तर दिशा की गिनती माहेन्द्रकल्प में की जाती है। इसी तरह ऊपर के छह कल्पयुगलों में भी समझ लेना चाहिए। ये युगल ऊपर-ऊपर आधे-आधे राजु की ऊँचाई में हैं। इस तरह छह राजु की ऊँचाई में सोलह स्वर्ग हैं। उनके ऊपर एक राजू की ऊँचाई में नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश, पाँच अनुत्तर ऊपर-ऊपर हैं। इन सबके मिलाकर कुल त्रेसठ पटल हैं।

सोलह स्वर्गों के बारह इन्द्र हैं- प्रारम्भ के और अन्त के चार स्वर्गों में तो प्रत्येक में एक-एक इन्द्र हैं और बीच के आठ स्वर्गों में दो-दो स्वर्गों का एक-एक इन्द्र है। इस तरह सब इन्द्र बारह हैं। इनमें सौधर्म, सानत्कुमार, ब्रह्म, शुक्र, आनत और आरण ये छह दक्षिणेन्द्र हैं। और ऐशान, माहेन्द्र, लान्तव, शतार, प्राणत और अच्युत ये छह उत्तरेन्द्र हैं।

वैमानिक देवों में परस्पर में क्या विशेषता है, यह बतलाते हैं—

स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्या-विशुद्धीन्द्रियावधि-विषयतोऽधिकाः ॥२०॥

अर्थ—वैमानिक देव स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या की विशुद्धि, इन्द्रियों का विषय तथा अवधिज्ञान का विषय, इन बातों में ऊपर ऊपर अधिक हैं।

विशेषार्थ—आयुकर्म के उदय से उसी भव में रहना स्थिति है। दूसरों का बुरा भला करने की शक्ति को प्रभाव कहते हैं। सातावेदनीय कर्म के उदय से इन्द्रियों के विषय को भोगना सुख है। शरीर, वस्त्र और आभूषणों वगैरह की चमक को द्युति कहते हैं। लेश्या की निर्मलता को लेश्या-विशुद्धि कहते हैं। प्रत्येक कल्प और प्रत्येक कल्प के प्रत्येक पटल के वैमानिक देव इन बातों में अपने नीचे के देवों से अधिक हैं तथा उनकी इन्द्रियों का और अवधिज्ञान का विषय भी ऊपर-ऊपर अधिक है।

गति-शरीर-परिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥२१॥

अर्थ—तथा वैमानिकदेव गति, शरीर की ऊँचाई, परिग्रह और अभिमान में ऊपर-ऊपर हीन हैं।

विशेषार्थ—जो जीव को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाती है, उसे गति यानि गमन कहते हैं। लोभकषाय के उदय से विषयों में जो ममत्व होता है, उसका नाम परिग्रह है। मानकषाय से उत्पन्न होने वाले अहंकार का नाम अभिमान है। यद्यपि ऊपर ऊपर के देवों में गमन करने की शक्ति अधिक-अधिक है। परन्तु देशान्तर में जाकर क्रीड़ा वगैरह करने की उत्कट लालसा नहीं है। इसलिए ऊपर ऊपर के देवों में देशान्तर गमन कम-कम पाया जाता है। शरीर की ऊँचाई भी ऊपर ऊपर घटती गयी है। सौधर्म ऐशान के देवों का शरीर सात हाथ ऊँचा है। सानत्कुमार, माहेन्द्र में छह हाथ ऊँचा है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ में पाँच हाथ ऊँचा है। शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार में चार हाथ ऊँचा है। आनत, प्राणत में साढ़े तीन हाथ और आरण, अच्युत में तीन हाथ ऊँचा है। अधो ग्रैवेयकों में अढ़ाई हाथ, मध्य ग्रैवेयक में दो हाथ और उपरिम ग्रैवेयकों में तथा नौ अनुदिशों में डेढ़ हाथ ऊँचा है और पाँच अनुत्तरों में एक हाथ ऊँचा शरीर

है। विमान वगैरह परिग्रह भी ऊपर-ऊपर कम है। कषाय की मन्दता होने से ऊपर ऊपर अभिमान भी कम है; क्योंकि जिनकी कषाय मन्द होती है, वे ही जीव ऊपर-ऊपर के कल्पों में जन्म लेते हैं।

इसका खुलासा इस प्रकार है—असैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्च अपने शुभ परिणामों से पुण्यकर्म का बन्ध करके भवनवासी और व्यन्तर देवों में उत्पन्न होते हैं। सैनी पर्याप्त कर्मभूमियाँ तिर्यञ्च यदि मिथ्यादृष्टि या सासादन सम्यग्दृष्टि हों तो भवनत्रिक में जन्म लेते हैं और यदि सम्यग्दृष्टि हों तो पहले या दूसरे स्वर्ग में जन्म लेते हैं। कर्मभूमियाँ मनुष्य यदि मिथ्यादृष्टि या सासादन सम्यग्दृष्टि हों तो भवनवासी से लेकर उपरिम ग्रैवेयक तक जन्म ले सकते हैं किन्तु जो द्रव्य से जिनलिंगी होते हैं, वे ही मनुष्य ग्रैवेयक तक जा सकते हैं तथा अभव्य मिथ्यादृष्टि भी जिनलिंग धारण करके तप के प्रभाव से उपरिम ग्रैवेयक तक मरकर जा सकता है। परिव्राजक तापसी मरकर पाँचवें स्वर्ग तक जन्म ले सकते हैं। आजीवक सम्प्रदाय के साधु बारहवें स्वर्ग तक जन्म ले सकते हैं। बारहवें स्वर्ग से ऊपर अन्य लिंग वाले साधु उत्पन्न नहीं होते। निर्ग्रन्थ लिंग के धारक यदि द्रव्यलिंगी हों तो उपरिम ग्रैवेयक तक और भावलिंगी हो तो सर्वार्थसिद्धि तक जन्म ले सकते हैं तथा श्रावक पहले से लेकर सोलहवें स्वर्ग तक ही जन्म ले सकता है। इस तरह जैसी-जैसी कषाय की मन्दता होती है, उसी के अनुसार ऊपर-ऊपर के कल्पों में जन्म होता है। इसी से ऊपर के देव मंदकषायी होते हैं।

अब वैमानिक देवों की लेश्या बतलाते हैं—

पीत-पद्म-शुक्ल-लेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु ॥२२॥

अर्थ—सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों में पीत लेश्या है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देवों में पीत और पद्म लेश्या है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्ग में पद्म लेश्या है। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार में पद्म और शुक्ल लेश्या है। शेष आनत आदि कल्पों में शुक्ल लेश्या है। उनमें भी अनुदिश और अनुत्तरों में परम शुक्ल लेश्या है।

कल्प संज्ञा किसकी है, यह बतलाते हैं—

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥२३॥

अर्थ—सौधर्म से लेकर ग्रैवेयक से पहले-पहले अर्थात् सोलहवें स्वर्ग तक कल्प संज्ञा है; क्योंकि जिनमें इन्द्र वगैरह की कल्पना पायी जाती है, उन्हीं की कल्प संज्ञा है। अतः नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर कल्पातीत हैं; क्योंकि अहमिन्द्र होने से उनमें इन्द्र आदि की कल्पना नहीं है।

अब लौकान्तिक देवों का कथन करते हैं—

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥२४॥

अर्थ— ब्रह्मलोक नाम के पाँचवें स्वर्ग में रहने वाले देव लौकान्तिक हैं। उनका लौकान्तिक नाम सार्थक है; क्योंकि लोक यानि ब्रह्मलोक, उसके अंत में जो रहते हैं वे लौकान्तिक हैं। अभिप्राय यह है कि जिन विमानों में लौकान्तिक रहते हैं। वे विमान ब्रह्मलोक के अंत में हैं। अथवा लोक यानि संसार। उसका अंत जिनके आ गया है, वे लौकान्तिक देव हैं; क्योंकि लौकान्तिक देव मरकर और एक जन्म लेकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

लौकान्तिक देवों के भेद कहते हैं—

सारस्वता-दित्यवह्न्यरुण-गर्दतोय-तुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥२५॥

अर्थ— सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट-ये आठ प्रकार के लौकान्तिक देव हैं, जो ब्रह्मलोक स्वर्ग की पूर्वोत्तर आदि आठ दिशाओं में क्रम से रहते हैं। ये सभी स्वतन्त्र हैं, किसी इन्द्र के आधीन नहीं हैं। सब समान हैं। इनमें कोई छोटा और कोई बड़ा नहीं है। विषयों से विरक्त हैं, इसी से इन्हें देवर्षि कहते हैं। अन्य देव इनकी बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं। ये चौदह पूर्व के पाठी होते हैं और जब तीर्थंकरों को वैराग्य होता है, तो उस समय उन्हें प्रतिबोधन करने के उद्देश्य से उनके पास

जाते हैं।

जो देव मनुष्य के दो भव धारण करके मोक्ष जाते हैं, उन्हें बतलाते हैं—

विजयादिषु द्विचरमाः ॥२६॥

अर्थ— यहाँ आदि शब्द प्रकार वाची है। अतः जो देव अहमिन्द्र होने के साथ-साथ जन्म से सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, उनका यहाँ आदि शब्द से ग्रहण किया है। इसलिए विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और नौ अनुदिश विमानों के अहमिन्द्र देव मनुष्य के दो भव लेकर मोक्ष जाते हैं। अर्थात् विजयादिक से चयकर मनुष्य होते हैं। फिर संयम धारण करके पुनः विजय आदि में जन्म लेते हैं। फिर वहाँ से चयकर मनुष्य हो, मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस तरह वे 'द्विचरम' कहे जाते हैं। क्योंकि मनुष्यभव से ही मोक्ष मिलता है, इसलिए मनुष्यभव को चरमदेह कहते हैं और जो दो बार चरम-देह को धारण करते हैं, वे द्विचरम कहे जाते हैं।

विशेषार्थ—यहाँ इतना विशेष जानना कि अनुदिश तथा चार अनुत्तरों के देव एक भव धारण करके भी मोक्ष जा सकते हैं। यहाँ अधिक से अधिक दो भव बतलाये हैं, इसी से सर्वार्थसिद्धि का ग्रहण यहाँ नहीं किया; क्योंकि सर्वार्थसिद्धि के देव अत्यन्त उत्कृष्ट होते हैं। इसी से उनके विमान का नाम सर्वार्थसिद्धि सार्थक है। वे एक ही भव धारण करके मोक्ष जाते हैं। त्रिलोकसार में लिखा है कि सर्वार्थसिद्धि के देव, लौकान्तिक देव, सब दक्षिणेन्द्र, सौधर्म स्वर्ग के लोकपाल, इन्द्राणी शचि, ये सब एक मनुष्यभव धारण करके मोक्ष पा जाते हैं।

तीन गतियों के जीवों का वर्णन करके तिर्यञ्चों की पहचान बतलाते हैं—

औपपादिक-मनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥२७॥

अर्थ—उपपाद जन्म वाले देव, नारकी और मनुष्यों के सिवाय बाकी जो संसारी जीव हैं, वे सब तिर्यञ्च हैं। अतः एकेन्द्रिय जीव भी तिर्यञ्च ही हैं। वे समस्त लोक में पाये जाते हैं। इसी से तिर्यञ्चों का कोई अलग लोक नहीं बतलाया है।

अब देवों की आयु बतलाते हुए प्रथम ही भवनवासी देवों की आयु बतलाते हैं—

स्थितिरसुर-नाग-सुपर्ण-द्वीप-शेषाणां सागरोपम-त्रिपल्योपमार्ध-हीन-मिताः ॥२८॥

अर्थ—असुरकुमारों की आयु एक सागर है। नागकुमारों की तीन पल्य है। सुपर्णकुमारों की आयु अढ़ाई पल्य है। द्वीप कुमारों की आयु दो पल्य है और बाकी के छहों कुमारों की आयु डेढ़-डेढ़ पल्य है। यह इनकी उत्कृष्ट आयु है।

अब सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की आयु बतलाते हैं—

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥२९॥

अर्थ—सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की आयु दो सागर से कुछ अधिक है।

विशेषार्थ—वैसे तो सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में दो सागर की ही उत्कृष्ट आयु है, किन्तु घातायुष्क सम्यग्दृष्टि के दो सागर से करीब आधा सागर आयु अधिक होती है।

आशय यह है कि जो मनुष्य अथवा तिर्यञ्च सम्यग्दृष्टि विशुद्ध परिणामों से ऊपर के स्वर्गों की आयु को बाँधकर पीछे संक्लेश परिणाम से आयु का घात कर लेता है। उसे घातायुष्क सम्यग्दृष्टि कहते हैं। जैसे किसी मनुष्य ने दसवें स्वर्ग की आयु बाँधी। पीछे उसके संक्लेश परिणाम हो गये। अतः वह बन्धी हुई आयु को घटा कर दूसरे स्वर्ग में उत्पन्न हुआ तो उसकी दूसरे देवों की उत्कृष्ट आयु-दो सागर से अन्तर्मुहूर्त कम आधा सागर आयु अधिक होती है। ऐसे घातायुष्क जीव बारहवें स्वर्ग तक ही उत्पन्न होते हैं। अतः कुछ अधिक आयु भी वहाँ तक बतलायी है, आगे नहीं बतलायी।

क्रमशः आगे के स्वर्गों में आयु बतलाते हैं—

सानत्कुमार-माहेन्द्रयोः सप्त ॥३०॥

अर्थ— सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में देवों की उत्कृष्ट आयु सात सागर से अधिक है।

त्रि-सप्त-नवैकादश-त्रयोदश-पञ्चदशभिरधिकानि तु ॥३१॥

अर्थ— सात सागर में क्रम से तीन, सात, नौ, ग्यारह, तेरह और पन्द्रह जोड़ देने से आगे के छह कल्पयुगलों में देवों की उत्कृष्ट आयु होती है। तथा यहाँ जो 'तु' शब्द दिया है, वह यह बतलाने के लिए दिया है कि अधिक आयु की अनुवृत्ति बारहवें स्वर्ग तक ही लेना चाहिए, आगे नहीं। अतः यह अर्थ हुआ कि ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर में कुछ अधिक दश सागर उत्कृष्ट आयु है। लान्तव और कापिष्ठ में कुछ अधिक चौदह सागर उत्कृष्ट आयु है। शुक्र, महाशुक्र में कुछ अधिक सोलह सागर उत्कृष्ट आयु है। शतार, सहस्रार में कुछ अधिक अठारह सागर; आनत, प्राणत में बीस सागर और आरण, अच्युत में बाईस सागर उत्कृष्ट आयु है।

कल्पातीत देवों की आयु बतलाते हैं—

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥३२॥

अर्थ— आरण और अच्युत स्वर्ग के ऊपर नौ ग्रैवेयकों में एक-एक सागर आयु बढ़ती जाती है। अतः पहले ग्रैवेयक में तेईस सागर की और अन्तिम ग्रैवेयक में इकतीस सागर की आयु है। उससे एक सागर अधिक यानि बत्तीस सागर की आयु अनुदिश विमानों में है। उससे एक सागर अधिक यानि तैंतीस सागर की आयु विजयादि विमानों में है और सर्वार्थसिद्धि में तैंतीस सागर की ही आयु है उससे कम नहीं हैं।

अब वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु कह कर जघन्य आयु कहते हैं—

अपरा पल्योपममधिकम् ॥३३॥

अर्थ—सौधर्म और ऐशान स्वर्गों में देवों की जघन्य आयु एक पल्य

से कुछ अधिक है।

परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा ॥३४॥

अर्थ– नीचे नीचे के स्वर्गों में जो उत्कृष्ट आयु है, वही उसके ऊपर के स्वर्गों में जघन्य आयु है। अर्थात् सौधर्म ऐशान में जो दो सागर से अधिक आयु है वह सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में जघन्य आयु है। सानत्कुमार, माहेन्द्र में जो सात सागर से अधिक उत्कृष्ट आयु है; वही ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर में जघन्य है। इसी तरह ऊपर के समस्त कल्पों में और कल्पातीतों में जानना चाहिए।

नारकियों की उत्कृष्ट आयु तो कह चुके किन्तु जघन्य आयु नहीं कही। अतः नारकियों का प्रकरण नहीं होने पर भी थोड़े में कहने के अभिप्राय से उनकी जघन्य आयु यहाँ कहते हैं–

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

अर्थ–दूसरी आदि पृथ्वियों में भी जो ऊपर-ऊपर उत्कृष्ट आयु है, वही उससे नीचे की पृथ्वियों की जघन्य आयु है। अर्थात् रत्नप्रभा में एक सागर की उत्कृष्ट आयु है, यही शर्कराप्रभा में जघन्य आयु है। शर्कराप्रभा में जो तीन सागर की उत्कृष्ट आयु है, वही बालुकाप्रभा में जघन्य आयु है। इस तरह सातवें नरक तक जानना चाहिए।

पहली पृथ्वी के नारकियों की जघन्य आयु कहते हैं–

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥३६॥

अर्थ–पहली पृथ्वी के नारकियों की जघन्य आयु दश हजार वर्ष है।

भवनवासियों की जघन्य आयु कहते हैं–

भवनेषु च ॥३७॥

अर्थ–भवनवासी देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है।

व्यन्तरों की भी जघन्य आयु कहते हैं–

व्यन्तराणां च ॥३८॥

अर्थ—व्यन्तर देवों की भी जघन्य आयु दस हजार वर्ष है।

व्यन्तरों की उत्कृष्ट आयु भी कहते हैं—

परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥

अर्थ— व्यन्तरों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य से कुछ अधिक है।

ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट आयु कहते हैं—

ज्योतिष्काणां च ॥४०॥

अर्थ—ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य से कुछ अधिक है।

ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु भी कहते हैं—

तदष्टभागोऽपरा ॥४१॥

अर्थ—ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु एक पल्य के आठवें भाग है।

अन्त में लौकान्तिक देवों की आयु कहते हैं—

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥४२॥

अर्थ—सब लौकान्तिक देवों की आयु आठ सागर है। ये सब शुक्ललेश्या वाले होते हैं और इनके शरीर की ऊँचाई पाँच हाथ होती है।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

अथ पंचमोऽध्यायः

सम्यग्दर्शन के विषयभूत जीव आदि सात तत्त्वों में से जीव तत्त्व का कथन हो चुका। इस अध्याय में अजीव तत्त्व का कथन है। अतः अजीव के भेद गिनाते हैं—

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥१॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चार अजीव हैं और काय हैं।

विशेषार्थ—वैसे द्रव्य तो छह हैं। उनमें पाँच द्रव्य अजीव हैं। केवल एक द्रव्य जीव है तथा छह द्रव्यों में पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं और एक काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं है। अतः जीव द्रव्य कायरूप है, किंतु अजीव नहीं है और काल द्रव्य अजीव है, किंतु कायरूप नहीं है। इसलिए जीव और काल के सिवा शेष चार द्रव्य ही ऐसे हैं, जो अजीव भी हैं और काय भी हैं। जिस द्रव्य में चैतन्य नहीं पाया जाता, उसे अजीव कहते हैं और जो बहुप्रदेशी होता है, उसे काय कहते हैं।

ऐसे द्रव्य चार ही हैं– धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल। गमन करते हुए जीव और पुद्गलों को जो गमन में सहायक होता है, उसे धर्म द्रव्य कहते हैं। ठहरते हुए जीव और पुद्गलों को जो ठहराने में सहायक होता है, उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं। समस्त द्रव्यों को अवकाश देने में सहायक द्रव्य को आकाश कहते हैं। और जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श गुण पाये जाते हैं, उसे पुद्गल द्रव्य कहते हैं।

अब इनकी संज्ञा बतलाते हैं—

द्रव्याणि ॥२॥

अर्थ—ये धर्म, अधर्म आदि द्रव्य हैं। जो त्रिकालवर्ती अपनी पर्यायों को प्राप्त करता है, उसे द्रव्य कहते हैं, द्रव्य का लक्षण सूत्रकार ने आगे स्वयं कहा है।

क्या जीव भी द्रव्य है?

जीवाश्च ॥३॥

अर्थ– जीव भी द्रव्य है। यहाँ 'जीवाः' बहुवचन दिया है। अतः जीव द्रव्य बहुत से हैं, ऐसा समझना।

अब इन द्रव्यों के बारे में विशेष कथन करते हैं–

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥४॥

अर्थ–ये ऊपर कहे द्रव्य नित्य हैं, अवस्थित हैं और अरूपी हैं।

विशेषार्थ–प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं-विशेष और सामान्य। जैसे धर्म द्रव्य का विशेष गुण तो गति में सहायक होना है और सामान्य गुण अस्तित्व है। इसी तरह सब द्रव्यों में सामान्य और विशेष गुण पाये जाते हैं। कभी भी द्रव्यों के इन गुणों का नाश नहीं होता। जिस द्रव्य का जो स्वभाव है, वह स्वभाव सदा रहता है। अतः सभी द्रव्य नित्य हैं। तथा इनकी संख्या भी निश्चित है। न तो ये छह से बढ़कर सात होते हैं और न कभी छह से घटकर पाँच होते हैं, सदा छह के छह ही रहते हैं। इससे इन्हें अवस्थित कहा है। तथा (पुद्गल को छोड़कर) इनमें रूप, रस, वगैरह नहीं पाया जाता। इसलिए ये अरूपी अर्थात् अमूर्तिक हैं।

सब द्रव्यों को अरूपी कहने से पुद्गल भी अरूपी ठहरता। अतः उसके निषेध के लिए सूत्र कहते हैं–

रूपिणः पुद्गलाः ॥५॥

अर्थ–पुद्गल द्रव्य रूपी हैं।

विशेषार्थ–यहाँ रूपी कहने से रूप के साथ-साथ रहने वाले स्पर्श, रस, गंध को भी लेना चाहिए; क्योंकि ये चारों गुण साथ ही रहते हैं। 'पुद्गलाः' शब्द बहुवचन है, सो यह बतलाता है कि पुद्गल द्रव्य भी बहुत हैं।

आगे बतलाते हैं– कि जैसे जीव द्रव्य बहुत हैं, पुद्गल द्रव्य भी बहुत हैं, वैसे धर्मादि द्रव्य बहुत नहीं हैं–

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥६॥

अर्थ—धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक द्रव्य हैं।

विशेषार्थ—इन तीनों द्रव्यों को एक-एक बतलाने से यह स्पष्ट है कि बाकी के द्रव्य अनेक हैं। जैनसिद्धान्त में बतलाया है कि जीव द्रव्य अनन्तानन्त हैं क्योंकि प्रत्येक जीव एक स्वतंत्र द्रव्य है। जीवों से अनन्त गुणे पुद्‍गल द्रव्य हैं, क्योंकि एक-एक जीव के उपभोग में अनन्त पुद्‍गल द्रव्य हैं। काल द्रव्य असंख्यात हैं; क्योंकि लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं और एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित रहता है। तथा धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं ॥६॥

क्रमशः इन एक-एक द्रव्यों के विषय में और अधिक कहते हैं—

निष्क्रियाणि च ॥७॥

अर्थ—धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य क्रिया रहित हैं, इनमें हलन चलन रूप क्रिया नहीं होती। अतः ये तीनों द्रव्य निष्क्रिय हैं।

शंका—जैनसिद्धान्त में माना है कि प्रत्येक द्रव्य में प्रतिसमय उत्पाद, व्यय हुआ करता है। किन्तु यदि धर्म आदि निष्क्रिय हैं, तो उनमें उत्पाद नहीं हो सकता, क्योंकि कुम्हार मिट्टी को चाक पर रखकर जब घुमाता है, तभी घड़े की उत्पत्ति होती है। अतः बिना क्रिया के उत्पाद नहीं हो सकता। और जब उत्पाद नहीं होगा तो व्यय (विनाश)भी नहीं होगा ?

समाधान—धर्म आदि निष्क्रिय द्रव्यों में क्रियापूर्वक उत्पाद नहीं होता किन्तु दूसरे प्रकार से उत्पाद होता है। उत्पाद दो प्रकार का माना है– एक स्वनिमित्तक, दूसरा पर-निमित्तक। जैन-आगम में अगुरुलघु नाम के अनन्त गुण माने गये हैं, जो प्रत्येक द्रव्य में रहते हैं। उन गुणों में छह प्रकार की हानि या वृद्धि सदा होती रहती है। उसके निमित्त से द्रव्यों में स्वभाव से ही सदा उत्पाद-व्यय हुआ करता है। यह स्व-निमित्तक उत्पाद-व्यय है। तथा धर्मादि द्रव्य प्रतिसमय अश्व आदि अनेक जीवों और पुद्‍गलों के गमन में, ठहरने में और अवकाशदान में निमित्त होते हैं, प्रतिक्षण गति

वगैरह में परिवर्तन होता रहता है, अतः उनके निमित्त से धर्मादि द्रव्यों में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। यह परनिमित्तक उत्पाद व्यय है।

शंका—धर्मादि द्रव्य स्वयं नहीं चलते तो वे दूसरों को चलाते कैसे हैं ? देखा जाता है कि जल वगैरह जब स्वयं बहते हैं, तभी मछलियों वगैरह को चलने में सहायक होते हैं ?

समाधान—यह आपत्ति उचित नहीं है। जैसे चक्षु रूप के देखने में सहायक है, किन्तु यदि मनुष्य का मन दूसरी ओर लगा हो तो चक्षु रूप को देखने का आग्रह नहीं करती। इसी तरह धर्मादि द्रव्य भी चलने में उदासीन निमित्त हैं, प्रेरक नहीं हैं।

अजीव कायाः' सूत्र में 'काय' पद होने से यह तो ज्ञात हो गया कि उक्त द्रव्य बहु प्रदेशी हैं। किन्तु किसके कितने प्रदेश हैं, यह ज्ञात नहीं हुआ। उसके बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥८॥

अर्थ—धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और एक जीव द्रव्य, इनमें से प्रत्येक के असंख्यात, असंख्यात प्रदेश होते हैं।

विशेषार्थ—जितने आकाश को पुद्‍गल का एक परमाणु रोकता है, उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य तो निष्क्रिय हैं और समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। अतः लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों में व्याप्त होने से वे दोनों असंख्यात, असंख्यात प्रदेशी हैं। जीव भी उतने ही प्रदेशी है किन्तु उसका स्वभाव संकुचने और फैलने का है। अतः नामकर्म के द्वारा उसे जैसा छोटा या बड़ा शरीर मिलता है, उतने में ही फैलकर रह जाता है। किन्तु जब केवलज्ञानी होकर वह लोकपूरण समुद्घात करता है, तब वह भी धर्म, अधर्म द्रव्य की तरह समस्त लोकाकाश में व्याप्त हो जाता है। अतः वह भी असंख्यात प्रदेशी है।

आगे आकाश के प्रदेश बतलाते हैं—

आकाशस्यानन्ताः ॥९॥

अर्थ—आकाश द्रव्य के अनन्त प्रदेश हैं। अर्थात् यद्यपि आकाश एक अखण्ड द्रव्य है, किन्तु यदि उसे परमाणु के द्वारा मापा जाये तो वह अनन्त परमाणुओं के फैलाव के बराबर होता है। इससे उसे अनन्त प्रदेशी कहा है।

पुद्गलों के भी प्रदेश बतलाते हैं—

संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥१०॥

अर्थ—यहाँ 'च' शब्द से अनन्त लेना चाहिए। अतः किसी पुद्गल-द्रव्य के संख्यात प्रदेश हैं, किसी के असंख्यात हैं और किसी के अनन्त हैं। आशय यह है कि शुद्ध पुद्गल द्रव्य तो एक अविभागी परमाणु है। किन्तु परमाणुओं में बँधने और बिछुड़ने की शक्ति है। अतः परमाणु के मेल से स्कन्ध बनता है। सो कोई स्कन्ध तो दो परमाणुओं के मेल से बनता है, कोई तीन के, कोई चार के, कोई संख्यात के, कोई असंख्यात के और कोई अनन्त परमाणुओं के मेल से बनता है। अतः कोई संख्यात प्रदेशी होता है, कोई असंख्यात प्रदेशी होता है और कोई अनन्त प्रदेशी होता है।

शंका—लोक तो असंख्यात प्रदेशी है, उसमें अनंत प्रदेशी पुद्गल द्रव्य कैसे रह सकता है ?

समाधान—एक ओर तो पुद्गलों में सूक्ष्मरूप परिणमन करने की शक्ति है, दूसरी ओर आकाश में अवगाहन शक्ति है। अतः सूक्ष्मरूप पुद्गल एक-एक आकाश के प्रदेश में बहुत से रह सकते हैं। फिर ऐसा कोई नियम नहीं है कि छोटे से आधार में बड़ा द्रव्य नहीं रह सकता। देखो, चम्पा के फूल की कली छोटी सी होती है। जब वह खिलती है तो उसकी गन्ध सब ओर फैल जाती है, अतः लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों में अनन्तानन्त पुद्गल द्रव्य रह सकते हैं।

परमाणु के प्रदेशों के विषय में कहते हैं—

नाणोः ॥११॥

अर्थ—परमाणु के प्रदेश नहीं होते; क्योंकि परमाणु एक प्रदेशी ही

है। जैसे आकाश के एक प्रदेश के और विभाग न हो सकने से वह अप्रदेशी है, वैसे ही परमाणु भी एक प्रदेशी ही है, अतः उसके दो तीन आदि प्रदेश नहीं होते। तथा पुद्गल के सबसे छोटे अंश को जिसका दूसरा विभाग नहीं हो सकता, परमाणु कहते हैं। अतः परमाणु से छोटा यदि कोई द्रव्य होता तो उसके प्रदेश हो सकते थे किंतु उससे छोटा कोई द्रव्य है नहीं। इससे परमाणु एक प्रदेशी ही है।

धर्मादिक द्रव्य कहाँ रहते हैं, सो बतलाते हैं—

लोकाकाशेऽवगाहः ॥१२॥

अर्थ—धर्म आदि द्रव्य लोकाकाश में रहते हैं। आशय यह है कि आकाश तो सर्वत्र है। उसके बीच के जितने भाग में धर्म आदि छहों द्रव्य पाये जाते हैं, उतने भाग को लोकाकाश कहते हैं। और उसके बाहर सब ओर जो आकाश है, उसे अलोकाकाश कहते हैं। धर्मादि द्रव्य लोकाकाश में ही पाये जाते हैं, बाहर नहीं।

शंका—यदि धर्मादि द्रव्यों का आधार लोकाकाश है, तो आकाश का आधार क्या है ?

समाधान—आकाश का आधार अन्य कोई नहीं है, वह अपने ही आधार है।

शंका—यदि आकाश अपने आधार है तो धर्मादि द्रव्यों को भी अपने ही आधार होना चाहिए। और यदि धर्मादि द्रव्यों का आधार कोई अन्य द्रव्य है तो आकाश का भी दूसरा आधार होना चाहिए ?

समाधान—आकाश से बड़ा कोई द्रव्य नहीं है, जिसके आधार आकाश रह सके। आकाश तो सब ओर अनन्त है—उसका कहीं अन्त ही नहीं है। तथा निश्चयनय से सभी द्रव्य अपने आधार हैं—कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य के आधार नहीं है। किन्तु व्यवहारनय से धर्मादि द्रव्यों का आधार आकाश को कहा जाता है, क्योंकि धर्मादि द्रव्य लोकाकाश से बाहर नहीं पाये जाते।

शंका—लोक में जो पूर्वोत्तरकाल-भावी होते हैं, उन्हीं में आधार-आधेयपना देखा जाता है। जैसे मकान पहले बन जाता है तो पीछे उसमें मनुष्य आकर बसते हैं। किन्तु इस तरह आकाश पहले से है और धर्मादि द्रव्य उसमें बाद को आये हैं, ऐसी बात तो आप मानते नहीं। ऐसी स्थिति में व्यवहारनय से भी आधार-आधेयपना नहीं बन सकता?

समाधान—आपकी आपत्ति ठीक नहीं है। जो एक साथ होते हैं, उनमें भी आधार-आधेयपना देखा जाता है। जैसे शरीर और हाथ एक साथ ही बनते हैं फिर भी 'शरीर में हाथ है' ऐसा कहा जाता है। इसी तरह यद्यपि सभी द्रव्य अनादि हैं फिर भी 'आकाश में धर्मादि द्रव्य हैं' ऐसा व्यवहार होने में कोई दोष नहीं है।

कौन द्रव्य कितने लोकाकाश में रहता है? यह बतलाते हैं—

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥१३॥

अर्थ—धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाश में व्याप्त है। अर्थात् जैसे मकान के एक कोने में घड़ा रखा रहता है। उस तरह से धर्म अधर्म द्रव्य लोकाकाश में नहीं रहते। किन्तु जैसे तिलों में सर्वत्र तेल पाया जाता है, वैसे ही दोनों द्रव्य समस्त लोकाकाश में पाये जाते हैं।

अब पुद्गल द्रव्य की अवगाहना बताते हैं—

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

अर्थ—पुद्गलों का अवगाह लोकाकाश के एक प्रदेश से लगाकर असंख्यात प्रदेशों में है। अर्थात् एक परमाणु आकाश के एक प्रदेश में रहता है। दो परमाणु यदि जुदे-जुदे होते हैं तो दो प्रदेशों में रहते हैं और यदि परस्पर में बँधे हों तो एक प्रदेश में रहते हैं। इसी तरह संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणु के स्कन्ध लोकाकाश के एक प्रदेश में, अथवा संख्यात या असंख्यात प्रदेशों में रहते हैं। जैसा स्कन्ध होता है, उसी के अनुसार स्थान में वह रहता है।

शंका—धर्म, अधर्म द्रव्य तो अमूर्तिक हैं, अतः वे एक जगह बिना

किसी बाधा के रह सकते हैं। किन्तु पुद्गल द्रव्य तो मूर्तिक है, अतः एक प्रदेश में अनेक मूर्तिक पुद्गल कैसे रह सकते हैं ?

समाधान—जैसे प्रकाश मूर्तिक है फिर भी एक घर में अनेक दीपकों का प्रकाश रह जाता है, वैसे ही सूक्ष्म परिणमन होने से लोकाकाश के एक प्रदेश में बहुत से पुद्गल परमाणु रह सकते हैं।

एक जीव कितनी जगह रोकता है, वह बतलाते हैं—

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥१५॥

अर्थ—लोक के असंख्यातवें भाग आदि में जीवों का अवगाह है। अर्थात् लोकाकाश के असंख्यात भाग करने पर जो एक असंख्यातवाँ भाग होता है, कम से कम उस एक असंख्यातवें भाग में एक जीव रहता है, क्योंकि सबसे जघन्य अवगाहना सूक्ष्म निगोदिया जीव की होती है। सो वह जीव लोक के असंख्यातवें भाग स्थान को रोकता है। यदि जीव की अवगाहना बड़ी होती है तो वह लोक के दो, तीन, चार आदि असंख्यातवें भागों में रहता है, यहाँ तक कि सर्वलोक तक में व्याप्त हो जाता है।

शंका—यदि लोक के एक असंख्यातवें भाग में एक जीव रहता है, तो अनन्तानन्त जीवराशि लोकाकाश में कैसे रह सकती है ?

समाधान—जीव दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म और बादर। जिनका शरीर स्थूल होता है, उन्हें बादर कहते हैं। बादर जीव एक जगह बहुत से नहीं रह सकते। किन्तु सूक्ष्म शरीर वाले जीव सूक्ष्म होने से जितनी जगह में एक निगोदिया जीव रहता है। उतनी जगह में साधारण काय के रूप में अनन्तानन्त रह सकते हैं; क्योंकि वे न तो किसी से रुकते हैं और न किसी को रोकते हैं। अतः कोई विरोध नहीं होता।

शंका—एक जीव को लोकाकाश के बराबर प्रदेश वाला बतलाया है। ऐसा जीव लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में कैसे रह सकता है ? उसे तो समस्त लोक में व्याप्त होकर ही रहना चाहिए ?

सूत्रकार इस शंका के समाधान के लिए सूत्र कहते हैं—

प्रदेश-संहार-विसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१६॥

अर्थ—यद्यपि जीव के प्रदेश लोकाकाश के बराबर हैं फिर भी दीपक की तरह प्रदेशों का संकोच विस्तार होने से जीव लोक के असंख्यातवें भाग आदि में रहता है।

विशेषार्थ—यद्यपि आत्मा स्वभाव से अमूर्तिक है फिर भी अनादिकाल से कर्मों के साथ एकमेक होने के कारण कथंचित् मूर्तिक हो रहा है। अतः कर्म के कारण छोटा या बड़ा जैसा शरीर मिलता है, उसके अनुसार ही उसके प्रदेशों का संकोच या फैलाव हो जाता है और वह उस शरीर में व्याप्त होकर रह जाता है। जैसे दीपक छोटे या बड़े जैसे स्थान में रखा जाता है, उसी रूप में उसका प्रकाश या तो फैल जाता है अथवा संकुचित हो जाता है। वैसे ही आत्मा के विषय में भी जानना चाहिए। किन्तु प्रदेशों का संकोच विस्तार होने पर भी प्रदेशों का परिमाण घटता बढ़ता नहीं। हर हालत में प्रदेश लोकाकाश के बराबर ही रहते हैं।

शंका—यदि आत्मा के प्रदेशों में संकोच विस्तार होता है तो वे संकुचते संकुचते इतना छोटा क्यों नहीं हो जाते कि आकाश के एक प्रदेश में एक जीव रह सके ?

समाधान—आत्मा के प्रदेशों का संकोच या विस्तार शरीर के अनुसार होता है। और सबसे छोटा शरीर सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के होता है, जिसकी अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग है। अतः जीव की अवगाहना इससे कम नहीं होती, कम से कम इतनी ही रहती है। इससे वह लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

अब प्रत्येक द्रव्य का कार्य बतलाते हैं—

गति-स्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥१७॥

अर्थ—जीव और पुद्गल की गति रूप उपकार धर्म द्रव्य करता है और स्थिति रूप उपकार अधर्म द्रव्य करता है।

विशेषार्थ—जीव और पुद्गल द्रव्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर

जाते आते हैं। यह गमन करने की शक्ति तो जीव और पुद्गलों में ही है। अतः गमन करने में अन्तरंग कारण तो वे स्वयं ही हैं। किन्तु बाह्य सहायक के बिना कोई कार्य नहीं होता। अतः बाह्य सहायक धर्म द्रव्य है। किन्तु यदि कोई जीव या पुद्गल गमन नहीं करता हो तो उसे धर्मद्रव्य चलने की प्रेरणा नहीं करता। जैसे मछली में गमन करने की शक्ति तो स्वयं ही है, परन्तु बाह्य सहायक जल है। किन्तु यदि मछली न चले तो जल उसे जबरन नहीं चलाता है। फिर भी जल के बिना मछली गमन नहीं कर सकती, अतः उसके गमन करने में जल सहायक है। ऐसे ही अधर्म द्रव्य चलते हुए जीव पुद्गलों को ठहरने में सहकारी कारण है। जैसे ग्रीष्म ॠतु में गमन करते हुए पथिकों को ठहरने में वृक्ष की छाया सहायक है। परन्तु वह अधर्मद्रव्य या छाया जबरन किसी को नहीं ठहराता है।

शंका—भूमि, जल वगैरह ही गति वगैरह में सहायक देखे जाते हैं, फिर धर्म और अधर्म द्रव्य को मानने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—भूमि, जल वगैरह तो किसी-किसी के ही चलने या ठहरने में सहायक हैं। किन्तु धर्म और अधर्म द्रव्य तो सभी जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति में साधारण सहायक हैं। फिर एक कार्य की उत्पत्ति में अनेक कारण भी अवश्य होते हैं। अतः ऊपर की शंका ठीक नहीं है।

क्रमशः आकाश द्रव्य का उपकार बतलाते हैं—

आकाशस्यावगाहः ॥१८॥

अर्थ—सब द्रव्यों को अवकाश देना आकाश द्रव्य का उपकार है।

शंका—क्रियावान् जीव और पुद्गल द्रव्य को अवकाश देना तो ठीक है किन्तु धर्मादि द्रव्य तो कहीं आते-जाते नहीं हैं, अनादिकाल से जहाँ के तहाँ स्थित हैं। उनको अवकाश देने की बात उचित प्रतीत नहीं होती ?

समाधान—जैसे आकाश चलता नहीं है फिर भी उसे सर्वगत (जो

सब जगह जाता है) कहते हैं; क्योंकि वह सर्वत्र पाया जाता है। ऐसे ही धर्म और अधर्म द्रव्य में अवगाह रूप क्रिया यद्यपि नहीं है फिर भी वे समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं इसलिए उपचार से उन्हें अवगाही कह दिया है। यद्यपि जीव और पुद्गलों को ही आकाश मुख्य रूप से अवकाश दान देता है।

शंका—यदि अवकाश (स्थान) देना आकाश का स्वभाव है तो एक मूर्तिक द्रव्य का दूसरे मूर्तिक द्रव्य से प्रतिघात नहीं होना चाहिए; क्योंकि आकाश सर्वत्र है। किन्तु देखा जाता है कि मनुष्य दीवार से टकरा कर रुक जाता है ?

समाधान— यह दोष ठीक नहीं है, क्योंकि मनुष्य जब दीवार से टकराता है तो वहाँ पुद्गल की पुद्गल से टक्कर होती है, किन्तु इसमें आकाश का क्या दोष है ? जैसे यदि रेलगाड़ी भरी हो और उसमें बैठे हुए यात्री अन्य यात्रियों को न चढ़ने दें तो इसमें रेलगाड़ी का क्या दोष है, वह तो बराबर स्थान दिये हुए हैं।

शंका—अलोकाकाश में कोई दूसरा द्रव्य नहीं रहता, अतः वहाँ के आकाश में अवकाश दान देने का स्वभाव नहीं है ?

समाधान—यदि वहाँ कोई द्रव्य नहीं रहता तो इससे आकाश अपने स्वभाव को नहीं छोड़ देता। जैसे किसी खाली मकान में यदि कोई नहीं रहता तो इसका यह मतलब नहीं है कि उस मकान में किसी को स्थान देने की शक्ति ही नहीं है। कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव को छोड़कर नहीं रह सकता।

आगे पुद्गल द्रव्य का उपकार बतलाते हैं—

शरीर-वाङ्-मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥१९॥

अर्थ—शरीर, वचन, मन और श्वास-उच्छ्वास ये सब पुद्गलों का उपकार है।

विशेषार्थ—हमारा शरीर तो पुद्गलों का बना है, यह बात प्रत्यक्ष

ही है। कार्मण शरीर यानि जो कर्मपिण्ड आत्मा से बँधा हुआ है, वह भी पौद्गलिक ही है; क्योंकि मूर्तिक पदार्थों के निमित्त से ही कर्म अपना फल देते हैं। जैसे पैर में काँटा चुभने से असाता कर्म का उदय होता है और मीठे, रुचिकर पदार्थ खाने मिलने से साता कर्म का उदय होता है। अतः मूर्तिक के निमित्त से फलोदय होने के कारण कार्मण शरीर मूर्तिक ही है।

वचन दो प्रकार का है–भाव वचन और द्रव्य वचन। वीर्यान्तराय कर्म और मति–श्रुत ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय से आत्मा में जो बोलने की शक्ति होती है, उसे भाव वचन कहते हैं। पुद्गल के निमित्त से होने के कारण यह भी पौद्गलिक है। तथा बोलने की शक्ति से युक्त जीव के कण्ठ, तालु वगैरह के संयोग से जो पुद्गल शब्द–रूप बनते हैं, वह द्रव्यवचन है। वह भी पौद्गलिक ही है; क्योंकि कानों से सुनायी देता है। अन्य मतवाले शब्द को अमूर्तिक मानते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि शब्द मूर्तिमान श्रोत्रेन्द्रिय से जाना जाता है, मूर्तिमान वायु के द्वारा एक दिशा से दूसरी दिशा में ले जाया जाता है, शब्द की टक्कर से प्रतिध्वनि होती है, शब्द मूर्तिक के द्वारा रुक जाता है। अतः शब्द मूर्तिक ही है।

मन भी दो प्रकार का होता है–भाव मन और द्रव्य मन। गुण–दोष के विचार की शक्ति को भाव मन कहते हैं। वह शक्ति पुद्गल कर्मों के क्षयोपशम से प्राप्त होती है। अतः वह भी पौद्गलिक है। तथा ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से और अंगोपांग नामकर्म के उदय से हृदय स्थान में जो पुद्गल मन रूप से परिणमन करते हैं, उन्हें द्रव्य मन कहते हैं। यह द्रव्य मन तो पुद्गलों से ही बनता है, इसलिए यह भी पौद्गलिक है।

अन्दर की वायु को बाहर निकालना उछ्वास या प्राण है। और बाहर की वायु को अन्दर ले जाना निश्वास या अपान है। ये दोनों भी पौद्गलिक हैं, क्योंकि हथेली के द्वारा नाक और मुँह को बन्द कर लेने से श्वांस रुक जाता है। तथा ये आत्मा के उपकारी हैं; क्योंकि श्वास–निश्वास

के बिना सशरीरी आत्मा जीवित नहीं रह सकता। इन्हीं से आत्मा का अस्तित्व मालूम होता है; क्योंकि जैसे किसी मशीन को कार्य करती हुई देखकर यह मालूम होता है कि इसका कोई संचालक है, उसी तरह श्वास-निश्वास की क्रिया से आत्मा का अस्तित्व प्रतीत होता है।

पुद्गल द्रव्य का और भी उपकार बतलाते हैं—

सुख-दुःख-जीवित-मरणोपग्रहाश्च ॥२०॥

अर्थ—सुख, दुःख, जीवन, मरण भी पुद्गलकृत उपकार हैं।

विशेषार्थ—साता वेदनीय के उदय से और बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से आत्मा को जो प्रसन्नता होती है, वह सुख है। और असाता वेदनीय के उदय से जो संक्लेश रूप भाव होता है, वह दुःख है। आयुकर्म के उदय से एक भाव में स्थित जीव के श्वासोच्छ्वास का जारी रहना जीवन है और उसका उच्छेद हो जाना मरण है। ये भी पुद्गल के निमित्त से ही होते हैं, अतः पौद्गलिक हैं।

यहाँ उपकार का प्रकरण होने पर भी सूत्र में जो 'उपग्रह' पद दिया है, वह यह बतलाने के लिए दिया है कि पुद्गल जीव का ही उपकार नहीं करता, किन्तु पुद्गल पुद्गल का भी उपकार करता है। जैसे राख से कांसे के बर्तन साफ किये जाते हैं या निर्मली डालने से मैला पानी साफ हो जाता है। तथा यहाँ उपकार का मतलब केवल भलाई नहीं लेना चाहिए, बल्कि किसी भी कार्य में सहायक होना उपकार है।

अब जीवकृत उपकार बतलाते हैं—

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥

अर्थ—आपस में एक दूसरे की सहायता करना जीवों का उपकार है। जैसे स्वामी धन वगैरह के द्वारा अपने सेवक का उपकार करता है और सेवक हित की बात कह कर और अहित से बचा कर स्वामी का उपकार करता है। इसी तरह गुरु उचित उपदेश देकर शिष्य का उपकार करता है और शिष्य गुरु की आज्ञा के अनुसार आचरण करके गुरु का उपकार

करता है।

उपकार का प्रकरण होते हुए भी इस सूत्र में जो उपग्रह पद दिया है। वह यह बतलाने के लिए दिया है कि पहले सूत्र में बतलाये गये सुख दुःख आदि भी जीवकृत उपकार हैं। अर्थात् एक जीव दूसरे जीव को सुख दुःख भी देता है और जीवन मरण में भी सहायक होता है।

अन्त में काल का उपकार बतलाते हैं—

वर्तना-परिणाम-क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥

अर्थ—वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल द्रव्य के उपकार हैं।

विशेषार्थ—प्रतिसमय छहों द्रव्यों में जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता रहता है। इसी का नाम वर्तना है। यद्यपि सभी द्रव्य अपनी-अपनी पर्याय रूप से प्रतिसमय स्वयं ही परिणमन करते हैं, किन्तु बिना बाह्य-निमित्त के कोई कार्य नहीं होता। और उसमें बाह्य-निमित्त काल है। अतः वर्तनों को काल का उपकार कहा जाता है। अपने स्वभाव को न छोड़कर द्रव्यों की पर्यायों के बदलने को परिणाम कहते हैं। जैसे जीव के परिणाम क्रोधादि हैं और पुद्गल के परिणाम रूप रसादि हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन करने का नाम क्रिया है। यह क्रिया जीव और पुद्गलों में ही पायी जाती है। जो बहुत दिनों का होता है, उसे पर कहते हैं और जो थोड़े दिनों का होता है, उसे अपर कहते हैं। ये सब कालकृत उपकार हैं। यद्यपि परिणाम वगैरह वर्तना के ही भेद हैं, किन्तु काल के दो भेद बतलाने के लिए उन सबका ग्रहण किया है।

काल द्रव्य दो प्रकार का है–निश्चय काल और व्यवहार काल। निश्चय काल का लक्षण वर्तना है और व्यवहार काल का लक्षण परिणाम वगैरह है। जीव पुद्गलों में होने वाले परिणमन में ही व्यवहार काल घड़ी, घण्टा वगैरह जाने जाते हैं। उसके तीन भेद हैं भूत, वर्तमान और भविष्य। इस घड़ी, मुहूर्त, दिन, रात, वगैरह में होने वाले काल के व्यवहार से मुख्य

निश्चयकाल का अस्तित्व जाना जाता है; क्योंकि मुख्य के होने से ही गौण व्यवहार होता है। अतः लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जो एक-एक कालाणु स्थित है, वही निश्चय काल है। उसी के निमित्त से वर्तना वगैरह उपकार होते हैं।

अब पुद्‌गलों का लक्षण बतलाते हैं—

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्‌गलाः ॥२३॥

अर्थ—जिनमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाये जाते हैं, उन्हें पुद्‌गल कहते हैं। समस्त पुद्‌गलों में ये चारों गुण अवश्य पाये जाते हैं।

विशेषार्थ—स्पर्श गुण आठ प्रकार का है-स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण, कोमल, कठोर, हल्का, भारी। रस पाँच प्रकार का होता है—खट्टा, मीठा, कड़वा, कसैला और चरपरा। गंध दो प्रकार की है—सुगन्ध और दुर्गन्ध। वर्ण पाँच प्रकार का है—काला, नीला, लाल, पीला और सफेद। इस तरह बीस भेद हैं। इन भेदों के भी अवान्तर भेद बहुत हैं। ये सब गुण पुद्‌गलों में पाये जाते हैं।

आगे पुद्‌गल द्रव्य की पर्याय बतलाते हैं—

शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छाया तपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥

अर्थ—शब्द, बन्ध, सूक्ष्मपना, स्थूलपना, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत ये सब पुद्‌गल की ही पर्याय हैं।

विशेषार्थ—शब्द दो प्रकार का है-भाषा रूप और अभाषा रूप। भाषा रूप शब्द भी दो प्रकार का है-अक्षर रूप और अनक्षर रूप। मनुष्यों के व्यवहार में आने वाली अनेक बोलियाँ अक्षर रूप भाषात्मक शब्द हैं। और पशु-पक्षियों वगैरह की टें-टें में-में अनक्षर रूप भाषात्मक शब्द हैं। अ-भाषा रूप शब्द दो प्रकार का है—एक जो पुरुष के प्रयत्न से पैदा होता है, उसे प्रायोगिक कहते हैं। और जो बिना पुरुष के प्रयत्न के मेघ आदि की गर्जना से होता है, उसे स्वाभाविक कहते हैं। प्रायोगिक के भी चार भेद हैं—

चमड़े को मढ़कर ढोल नगारे वगैरह का जो शब्द होता है, वह तत है। सितार वगैरह के शब्द को वितत कहते हैं। घण्टा वगैरह के शब्द को घन कहते हैं। बाँसुरी, शंख वगैरह के शब्द को सुषिर कहते हैं। ये सब शब्द के भेद हैं।

बन्ध भी दो प्रकार का है–वैस्रसिक और प्रायोगिक। जो बन्ध बिना पुरुष के प्रयत्न के स्वयं होता है, उसे वैस्रसिक कहते हैं। जैसे पुद्गलों के स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से स्वयं ही बादल, बिजली और इन्द्रधनुष वगैरह बन जाते हैं। पुरुष के प्रयत्न से होने वाला बन्ध प्रायोगिक है। उसके भी दो भेद हैं– एक अजीव का बन्ध, जैसे लकड़ी और लाख का बन्ध। दूसरा जीव और अजीव का बन्ध, जैसे आत्मा से कर्म और नोकर्म का बन्ध।

सूक्ष्मपना दो प्रकार का है–एक सबसे सूक्ष्म, जैसे परमाणु। दूसरा आपेक्षिक सूक्ष्म, जैसे बेल से सूक्ष्म आँवला और आँवले से सूक्ष्म बेर। स्थूलपना भी दो प्रकार का है–एक सबसे अधिक स्थूल– जैसे समस्त जगत् में व्याप्त महा स्कन्ध। दूसरा आपेक्षिक स्थूल–जैसे बेर से स्थूल आँवला और आँवला से स्थूल बेल।

संस्थान यानि आकार भी दो तरह का है–गोल, चौकोर, लम्बा, चौड़ा आदि आकारों को 'इत्थं लक्षण' कहते हैं– क्योंकि उन्हें कहा जा सकता है। और जिस आकार को कह सकना शक्य न हो, जैसे बादलों में अनेक प्रकार के आकार बनते बिगड़ते रहते हैं, उन्हें 'अनित्थं लक्षण' कहते हैं। भेद छह प्रकार का है–आरा से लकड़ी चीरने पर जो बुरादा निकलता है, उसका नाम उत्कर है। जौ, गेहूँ के आटे को चूर्ण कहते हैं। घड़े के ठिकरों को खण्ड कहते हैं। उड़द, मूंग वगैरह की दाल के छिलकों को चूर्णिका कहते हैं। मेघ वगैरह के पटल का नाम प्रतर है। लोहे को गर्म करके पीटने पर जो फुलिंगे निकलते हैं, उन्हें अणु–चटन कहते हैं। ये सब भेद यानि टुकड़ों के प्रकार हैं। तम अन्धकार का नाम है। छाया दो प्रकार की होती है–एक तो जिस वस्तु की छाया हो, उसका रूप रंग ज्यों का त्यों

उसमें आ जाये, जैसे दर्पण में मुख का रूप रंग वगैरह ज्यों का त्यों आ जाता है। दूसरे प्रतिबिम्ब मात्र, जैसे धूप में खड़े होने से छाया मात्र पड़ जाती है। सूर्य के प्रकाश को आतप या घाम कहते हैं। चन्द्रमा वगैरह के शीतल प्रकाश को उद्योत कहते हैं। ये सब पुद्गल की ही पर्यायें हैं।

अब पुद्गल के भेद कहते हैं—

अणवः स्कन्धाश्च ॥२५॥

अर्थ—पुद्गल के दो भेद हैं– अणु और स्कन्ध। जिसका दूसरा भाग नहीं हो सकता, उस अविभागी एक प्रदेशी पुद्गल द्रव्य को अणु या परमाणु कहते हैं। और जो स्थूल हो, जिसे उठा सकें, रख सकें, वह स्कन्ध है। यद्यपि ऐसे भी स्कन्ध हैं, जो दिखायी नहीं देते। फिर भी वे स्कन्ध ही कहलाते हैं; क्योंकि दो या दो से अधिक परमाणुओं के मेल से जो पुद्गल बनता है, वह स्कन्ध कहा जाता है।

विशेषार्थ—पुद्गल बहुत तरह के होते हैं, किन्तु वे सब दो जाति के होते हैं। अतः अणु और स्कन्ध में उन सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। ऊपर कहे हुए बीस गुणों में से एक परमाणु में कोई एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और शीत, उष्ण में से एक तथा स्निग्ध, रूक्ष में से एक इस तरह दो स्पर्श रहते हैं। ऊपर जो शब्दादि गिनाये हैं, वे सब स्कन्ध हैं। स्कन्धों में अनेक रस, अनेक रूप वगैरह पाये जाते हैं।

अब स्कन्धों की उत्पत्ति कैसे होती है, यह बतलाते हैं—

भेद-संघातेभ्यः उत्पद्यन्ते ॥२६॥

अर्थ—भेद, संघात और भेद-संघात से स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। स्कन्धों के टूटने को भेद कहते हैं। भिन्न-भिन्न परमाणुओं या स्कन्धों के मिलकर एक हो जाने को संघात कहते हैं। जैसे दो परमाणुओं के मिलने से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है। इसी तरह तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं के मेल से उतने ही प्रदेशी स्कन्ध बनता है। तथा एक स्कन्ध में दूसरे स्कन्ध के मिलने से या अन्य परमाणुओं के मिलने से भी

स्कन्ध बनता है। इन्हीं स्कन्धों के टूटने से भी दो प्रदेशी स्कन्ध तक स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। इसी तरह एक स्कन्ध के टूटकर दूसरे स्कन्ध में मिल जाने से भी स्कन्ध की उत्पत्ति होती है।

अब अणु की उत्पत्ति बतलाते हैं—

भेदादणुः ॥२७॥

अर्थ—अणु की उत्पत्ति स्कन्धों के टूटने से होती है, संघात से नहीं होती।

शंका—जब संघात से ही स्कन्धों की उत्पत्ति होती है तो भेद संघात से स्कन्धों की उत्पत्ति क्यों बतलाई ?

इस शंका के समाधान के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषः ॥२८॥

अर्थ—भेद और संघात दोनों से स्कन्ध चक्षु इन्द्रिय का विषय होता है।

विशेषार्थ—आशय यह है कि अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध होने से ही कोई स्कन्ध चक्षु इन्द्रिय के द्वारा देखने योग्य नहीं हो जाता। किन्तु उनमें भी कोई दिखाई देने योग्य होता है और कोई दिखाई देने योग्य नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न पैदा होता है कि जो स्कन्ध अदृश्य है, वह दृश्य कैसे हो सकता है ?

उसके समाधान के लिए एक सूत्र कहा गया है, जो बतलाता है कि केवल भेद से ही कोई स्कन्ध चक्षु इन्द्रिय से देखने योग्य नहीं हो जाता, किन्तु भेद और संघात दोनों से ही होता है। जैसे, एक सूक्ष्म स्कन्ध है। वह टूट जाता है। टूटने से उसके दो टुकड़े हो जाने पर भी वह सूक्ष्म ही बना रहता है और इस तरह वह चक्षु इन्द्रिय के द्वारा नहीं देखा जा सकता। किन्तु जब वह सूक्ष्म स्कन्ध दूसरे स्कन्ध में मिलकर अपने सूक्ष्मपने को छोड़ देता है और स्थूल रूप धारण कर लेता है तो चक्षु इन्द्रिय का विषय होने लगता है–उसे आँख से देखा जा सकता है।

अब द्रव्य का लक्षण कहते हैं—

सद् द्रव्यलक्षणम् ॥२९॥

अर्थ—द्रव्य का लक्षण सत् है। अर्थात् जो सत् है, वही द्रव्य है।

अब सत् का लक्षण कहते हैं—

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत् ॥३०॥

अर्थ—जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, वही सत् है।

विशेषार्थ—अपनी जाति को न छोड़कर चेतन या अचेतन द्रव्य में नई पर्याय के होने को उत्पाद कहते हैं। जैसे मिट्टी के पिण्ड में घट पर्याय होती है। पहली पर्याय के नष्ट होने को व्यय कहते हैं। जैसे—घट पर्याय के उत्पन्न होने पर मिट्टी का पिण्ड रूप आकार नष्ट हो जाता है। तथा पूर्वपर्याय का नाश और नई पर्याय का उत्पाद होने पर भी अपने अनादि स्वभाव को न छोड़ना ध्रौव्य है। जैसे पिण्ड आकार के नष्ट हो जाने पर और घट पर्याय के उत्पन्न होने पर भी मिट्टी कायम रहती है। प्रत्येक द्रव्य में ये तीनों धर्म एक साथ पाये जाते हैं; क्योंकि नई पर्याय का उत्पन्न होना ही पहली पर्याय का नाश है और पहली पर्याय का नाश होना ही नई पर्याय का उत्पाद है। तथा उत्पाद होने पर भी द्रव्य वही रहता है। और व्यय होने पर भी द्रव्य वही रहता है। जैसे कुम्हार मिट्टी का लौंदा लेकर और उसको चाक पर रख कर जब घुमाता है तो क्षणक्षण में उस मिट्टी की पहली पहली हालत बदलकर नई नई हालत होती जाती है और मिट्टी की मिट्टी बनी रहती है। ऐसा नहीं है जो मिट्टी की नई हालत तो हो जाये और पहली हालत न बदले। या पहली हालत नष्ट हो जाये और नई हालत पैदा न हो। अथवा इन हालतों के अदलने बदलने से द्रव्य भी 'और का और' हो जाये। यदि केवल उत्पाद को ही माना जाये और व्यय तथा ध्रौव्य को न माना जाये तो नई वस्तु का उत्पन्न होना ही शेष रहा। ऐसी स्थिति में बिना मिट्टी के ही घट बन जायेगा। तथा यदि वस्तु का विनाश ही माना जाय और उत्पाद तथा ध्रौव्य को न माना जाये तो घड़े के फूट जाने पर ठीकरे या मिट्टी कुछ भी

शेष न रहेंगे। इसी तरह यदि केवल ध्रौव्य को ही माना जाये और उत्पाद व्यय को न माना जाये तो जो वस्तु जिस हालत में है वह उसी हालत में बनी रहेगी और उसमें किसी भी तरह का परिवर्तन नहीं हो सकेगा। किन्तु ये सभी बातें प्रत्यक्ष विरुद्ध हैं। प्रत्यक्ष-देखा जाता है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है—उसमें प्रतिसमय रद्दोबदल होती है। फिर भी जो सत् है उसका सर्वथा विनाश नहीं होता और जो सर्वथा असत् है उसका उत्पाद नहीं होता। तथा परिवर्तन के होते हुए भी वस्तु का मूल-स्वभाव अपरिवर्तित रहता है—जड़ चेतन नहीं हो जाता और न चेतन जड़ हो जाता है। अतः जो सत् है वह उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य स्वरूप ही है। उसे ही द्रव्य कहते हैं।

आगे नित्य का स्वरूप बतलाते हैं—

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥३१॥

अर्थ—वस्तु के स्वभाव को तद्भाव कहते हैं और उसका नाश न होना नित्यता है।

विशेषार्थ—यद्यपि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है, किन्तु परिवर्तन के होते हुए भी वस्तु में कुछ ऐसी एकरूपता बनी रहती है, जिसके कारण हम उसे कालान्तर में भी पहचान लेते हैं कि यह वही वस्तु है, जिसे हमने पहले देखा था। उस एकरूपता का नाम ही नित्यता है।

आशय यह है कि जैनधर्म में प्रत्येक वस्तु को जब प्रतिसमय परिवर्तनशील बतलाया तो यह प्रश्न पैदा हुआ कि जब प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है तो नित्य कैसे है ? इसका समाधान करने के लिए सूत्रकार ने बतलाया कि नित्य का मतलब यह नहीं है कि जो वस्तु जिस रूप में है, वह सदा उसी रूप में बनी रहे और उसमें (मूलस्वभाव में) कुछ भी परिणमन न हो। बल्कि परिणमन के होते हुए भी उसमें (मूलस्वभाव में) ऐसी एकरूपता का बना रहना ही नित्यता है, जिसे देखकर हम तुरन्त पहचान लें कि यह वही वस्तु है, जिसे पहले देखा था।

उक्त कथन का यह अभिप्राय हुआ कि वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है। ऐसी स्थिति में यह शंका होती है कि जो नित्य है, वह अनित्य कैसे है? इसके समाधान

के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥३२॥

अर्थ—मुख्य को अर्पित कहते हैं और गौण को अनर्पित कहते हैं। मुख्यता और गौणता से ही अनेक धर्म वाली वस्तु का कथन सिद्ध होता है।

विशेषार्थ—वस्तु में अनेक धर्म हैं। उन अनेक धर्मों में से वक्ता का प्रयोजन जिस धर्म से होता है, वह धर्म मुख्य हो जाता है। और प्रयोजन न होने से बाकी के धर्म गौण हो जाते हैं। किन्तु किसी एक धर्म की प्रधानता से कथन करने का यह मतलब नहीं लेना चाहिए कि वस्तु में अन्य धर्म हैं ही नहीं। अतः किसी धर्म की प्रधानता और किसी धर्म की अप्रधानता से ही वस्तु की सिद्धि होती है। जैसे, एक देवदत्त नाम के पुरुष में पिता, पुत्र, भाई, जमाई, मामा, भानजा आदि अनेक सम्बन्ध भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से पाये जाते हैं। पुत्र की अपेक्षा वह पिता है। पिता की अपेक्षा पुत्र है। भाई की अपेक्षा भाई है। श्वसुर की अपेक्षा जमाई है। भानजे की अपेक्षा मामा है और मामा की अपेक्षा भानजा है। इसमें कोई भी विरोध नहीं है। इसी तरह वस्तु सामान्य की अपेक्षा नित्य है और विशेष की अपेक्षा अनित्य है। जैसे घट, घटपर्याय की अपेक्षा अनित्य है, क्योंकि घड़े के फूट जाने पर घटपर्याय नष्ट हो जाती है। और मिट्टी की अपेक्षा नित्य है; क्योंकि घड़े के फूट जाने पर भी मिट्टी कायम रहती है। इसी तरह सभी वस्तुओं के विषय में समझ लेना चाहिए।

ऊपर यह बतलाया है कि स्कन्धों की उत्पत्ति भेद, संघात और भेद-संघात से होती है। इसमें यह शंका होती है कि दो परमाणुओं का संयोग हो जाने से ही क्या स्कन्ध बन जाता है? इसका उत्तर यह है कि दो परमाणुओं का संयोग हो जाने पर भी जब तक उनमें रसायनिक प्रक्रिया के द्वारा बन्ध नहीं होता, जो दोनों को एकरूप कर दे, तब तक स्कन्ध नहीं बन सकता। इस पर पुनः यह शंका होती है कि अनेक पुद्गलों का संयोग होता देखा जाता है, परन्तु उनमें किन्हीं का परस्पर में बन्ध होता है और किन्हीं का बन्ध नहीं होता, इसका क्या कारण है? इसके समाधान के लिए आगे का कथन करते हैं—

स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः ॥३३॥

अर्थ—स्निग्धता अर्थात् चिक्कणपना और रुक्षता अर्थात् रूखापना। इन दोनों के कारण ही पुद्गल परमाणुओं का परस्पर में बन्ध होता है।

विशेषार्थ—पुद्गलों में स्नेह और रूक्ष गुण पाये जाते हैं। किन्हीं परमाणुओं में रूक्ष गुण होता है और किन्हीं परमाणुओं में स्नेह गुण होता है। स्नेह गुण के अविभागी प्रतिच्छेद बहुत से होते हैं। इसी तरह रूक्ष गुण के अविभागी प्रतिच्छेद भी बहुत से होते हैं। शक्ति के सबसे जघन्य अंश को अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं। एक-एक परमाणु में अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं और वे घटते बढ़ते रहते हैं। किसी समय अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद से घटते घटते असंख्यात अथवा संख्यात अथवा और भी कम अविभागी प्रतिच्छेद रह जाते हैं। और कभी बढ़कर संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद हो जाते हैं। इस तरह परमाणुओं में स्निग्धता और रूक्षता हीन या अधिक पायी जाती है, जिसका अनुमान हम स्कन्धों को देखकर कर सकते हैं। जैसे, जल से बकरी के दूध, घी में; बकरी के दूध, घी से गौ के दूध, घी में; गौ के दूध, घी से भैंस के दूध, घी में और भैंस के दूध, घी से ऊँटनी के दूध, घी में चिकनाई अधिक पायी जाती है। इसी तरह धूल से रेत में और रेत से बजरी में रूखापन अधिक पाया जाता है। वैसे ही परमाणुओं में भी चिकनाई और रूखाई कमती बढ़ती होती है। वही पुद्गलों के बन्ध में कारण है।

उक्त कथन से सभी परमाणुओं में बन्ध की प्राप्ति हुई। अतः जिन परमाणुओं का बंध नहीं होता, उनका कथन करते हैं—

न जघन्यगुणानाम् ॥३४॥

अर्थ—जघन्य गुण वाले परमाणुओं का बन्ध नहीं होता।

विशेषार्थ—यहाँ गुण से मतलब अविभागी प्रतिच्छेद से है। अतः जिन परमाणुओं में स्निग्धता अथवा रूक्षता का एक अविभागी प्रतिच्छेद रह जाता है, उनका बन्ध नहीं होता।

इस तरह जघन्य गुण वाले परमाणुओं के सिवा शेष सभी परमाणुओं का बन्ध प्राप्त हुआ। अतः उनमें भी और नियम करते हैं—

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥३५॥

अर्थ—गुणों की समानता होने पर सजातीय परमाणुओं का बन्ध नहीं होता।

विशेषार्थ—यदि बन्धने वाले दो परमाणु सजातीय हों और उनमें बराबर बराबर अविभागी प्रतिच्छेद हों, तो उनका भी बन्ध नहीं होता। जैसे दो गुण स्नेह वाले परमाणु का दो गुण स्नेह वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। दो गुण रूक्षता वाले परमाणु का दो गुण रूक्षता वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। इसी तरह दो गुण रूक्षता वाले परमाणु का दो गुण स्निग्धता वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। हाँ, यदि गुणों में समानता न हो तो सजातीयों का भी बन्ध होता है। आशय यह है कि 'स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः' इस सूत्र से केवल स्निग्धता और रूक्षता गुण वाले परमाणुओं का ही बन्ध सिद्ध होता है, स्निग्धता वालों का या रूक्षता वालों का बन्ध सिद्ध नहीं होता। अतः गुणों में विषमता होने पर सजातीयों का भी बन्ध बतलाने के लिए यह सूत्र बनाया गया है।

उक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि विषम गुण वाले सभी सजातीय विजातीय परमाणुओं का बन्ध होता है। अतः उसमें नियम बताते हैं—

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥३६॥

अर्थ—जिनमें दो गुण अधिक होते हैं, उन्हीं परमाणुओं का परस्पर में बन्ध होता है।

विशेषार्थ—सजातीय हो अथवा विजातीय हो, जिस परमाणु में स्निग्धता के दो गुण होते हैं, उस परमाणु का एक गुण स्निग्धता वाले अथवा दो गुण स्निग्धता वाले अथवा तीन गुण स्निग्धता वाले परमाणुओं के साथ बन्ध नहीं होता, किन्तु जिसमें चार गुण स्निग्धता के होते हैं, उसके साथ बन्ध होता है। तथा उस दो गुण स्निग्धता वाले परमाणु का पाँच, छह,

सात, आठ, नौ, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण स्निग्धता वाले परमाणु के साथ भी बन्ध नहीं होता। इसी तरह तीन गुण स्निग्धता वाले परमाणु का पाँच गुण स्निग्धता वाले परमाणु के साथ ही बन्ध होता है, न उससे कम गुण वालों के साथ बन्ध होता है और न उससे अधिक गुण वाले परमाणुओं के साथ बन्ध होता है। तथा दो गुण रूक्षता वाले परमाणु का चार गुण रूक्षता वाले परमाणु के साथ ही बन्ध होता है, उससे कम या अधिक गुण वाले के साथ नहीं होता। इसी तरह तीन गुण रूक्ष परमाणु का पाँच गुण रूक्षता वाले परमाणु के साथ ही बन्ध होता है, उससे कम या अधिक के साथ बन्ध नहीं होता। यह तो हुआ सजातीयों का बंध। इसी तरह भिन्न जातियों में भी लगा लेना चाहिए। अर्थात् दो गुण स्निग्धता वाले परमाणु का चार गुण रूक्षता वाले परमाणु के साथ ही बंध होता है। तथा तीन गुण स्निग्धता वाले परमाणु का पाँच गुण रूक्षता वाले परमाणु के साथ ही बंध होता है, उससे कम या अधिक गुण वाले के साथ बंध नहीं होता। 'न जघन्यगुणानाम्' इस सूत्र से लगाकर आगे के सूत्रों में जो बंध का निषेध चला आता था, उसका निवारण करने के लिए इस सूत्र में 'तु' पद लगा दिया है, जो निषेध को हटाकर बंध का विधान करता है।

अब यह शंका होती है कि अधिक गुण वालों का ही बंध क्यों बतलाया, समान गुण वालों का क्यों नहीं बतलाया? अतः उसके समाधान के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥

अर्थ—बन्ध होने पर अधिक गुण वाला परमाणु अपने से कम गुण वाले परमाणु को अपने रूप कर लेता है।

विशेषार्थ—जब दो परमाणु अपनी-अपनी पूर्व अवस्था को छोड़कर एक तीसरी अवस्था को अपनाते हैं, तभी स्कन्ध बनता है। यदि ऐसा न हो और जैसे वस्त्र में काले और सफेद धागे आपस में संयुक्त होकर भी जुदे-जुदे ही रहते हैं, वैसे ही यदि परमाणु भी रहें तो कभी भी स्कन्ध नहीं बन सकता। अतः बंध होने पर अधिक गुण वाला परमाणु अपने से कम गुण

वाले परमाणु को अपने रूप कर लेता है। इससे दोनों मिलकर एक हो जाते हैं और उनके रूप, रस आदि गुणों में भी परिवर्तन होकर स्कन्ध बन जाता है। इसी से बंधने वाले परमाणुओं में दो गुण का अन्तर रखा है। इससे अधिक अन्तर होने से एक परमाणु दूसरे में लय तो हो सकता है। किन्तु फिर तीसरी अवस्था पैदा न हो सकती; क्योंकि अल्प गुण वाला अपने से अधिक गुण वाले पर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता। इसी तरह अन्तर न रखने से भी दोनों समान बलशाली होने से एक दूसरे को अपने रूप न परिणमा कर अलग-अलग ही रह जाते।

अब दूसरी तरह से द्रव्य का लक्षण कहते हैं—

गुण-पर्ययवद् द्रव्यम् ॥३८॥

अर्थ—जिसमें गुण और पर्याय पायी जाती है, उसे द्रव्य कहते हैं।

विशेषार्थ—द्रव्य में अनेक परिणमन होने पर भी जो द्रव्य से भिन्न नहीं होता, सदा द्रव्य के साथ ही रहता है, वह गुण है। इसी से गुण को अन्वयी कहा गया है। और जो द्रव्य में आती जाती रहती है, वह पर्याय है। इसी से पर्याय को व्यतिरेकी कहा है। गुण-पर्याय रूप ही द्रव्य है।

जैसे ज्ञान आदि जीव के गुण हैं और रूप आदि पुद्‌गल के गुण हैं। न ज्ञान जीव को छोड़कर रह सकता है और न रूप रस आदि गुण पुद्‌गल को छोड़कर रह सकते हैं। हाँ, ज्ञान गुण में भी परिणमन होता है, जैसे घटज्ञान, पटज्ञान। और रूप आदि में भी परिणमन होता है। यह परिणमन ही पर्याय है।

पहले द्रव्य का लक्षण सत् कहा था और सत् का लक्षण "उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से जो युक्त हो वही सत् है" ऐसा कहा था। यहाँ गुण पर्यायवान को द्रव्य कहा है। इन दोनों लक्षणों में कोई अन्तर नहीं है। एक के कहने से दूसरे का अन्तर्भाव हो जाता है; क्योंकि गुण ध्रुव होते हैं और पर्याय उत्पाद-विनाशशील होती है। यदि द्रव्य में गुण न हों तो वह ध्रौव्य युक्त नहीं हो सकता और यदि पर्याय न हों तो वह उत्पाद-व्यय युक्त नहीं

हो सकता। अतः जब हम कहते हैं कि द्रव्य ध्रौव्ययुक्त है तो उसका मतलब होता है कि द्रव्य गुणवान है। और जब उसे उत्पाद-विनाश वाला कहते हैं तो उसका मतलब होता है कि वह पर्यायवान है। अतः दोनों लक्षण प्रकारान्तर से एक ही बात को कहते हैं। यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि द्रव्य, गुण और पर्याय की सत्ता जुदी जुदी नहीं है, किन्तु सबका अस्तित्व अथवा सत्ता एक ही है, जो द्रव्य के नाम से कही जाती है। इसी सत् को द्रव्य कहा है।

अब कालद्रव्य को कहते हैं—

कालश्च ॥३९॥

अर्थ—काल भी द्रव्य है।

विशेषार्थ—ऊपर द्रव्य के दो लक्षण बतलाये हैं। वे दोनों लक्षण काल द्रव्य में पाये जाते हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है– पहला लक्षण है कि जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाये जावें, वह द्रव्य है। सो काल द्रव्य में ध्रौव्य पाया जाता है क्योंकि काल का स्वभाव सदा स्थायी है। तथा उत्पाद और व्यय पर के निमित्त से भी होते हैं और स्वनिमित्तक भी होते हैं; क्योंकि काल द्रव्य प्रति समय अनन्त पदार्थों के परिणमन में कारण है, अतः कार्य के भेद से कारण में भी प्रतिसमय भेद होना जरूरी है, यह परनिमित्तक उत्पाद व्यय है। तथा काल में अगुरुलघु नाम के गुण भी पाये जाते हैं। उनकी वृद्धि हानि होने की अपेक्षा से उसमें स्वयं भी उत्पाद, व्यय प्रतिसमय होता रहता है।

दूसरा लक्षण है, जो गुण-पर्याय वाला हो, वह द्रव्य है। सो काल द्रव्य में सामान्य गुण भी पाये जाते हैं और विशेष गुण भी पाये जाते हैं। काल द्रव्य समस्त द्रव्यों की वर्तना में हेतु है। यह उसका विशेष गुण है; क्योंकि यह गुण अन्य किसी भी द्रव्य में नहीं पाया जाता। और अचेतनपना, अमूर्तिकपना, सूक्ष्मपना, अगुरुलघुपना आदि सामान्य गुण हैं, जो अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं। उत्पाद-व्ययरूप पर्याय भी काल में होती है। अतः दोनों लक्षणों से सहित होने के कारण काल भी द्रव्य है। यह काल

द्रव्य अमूर्तिक है, क्योंकि उसमें रूप, रस वगैरह गुण नहीं पाये जाते। तथा ज्ञान, दर्शन आदि गुणों से रहित होने से अचेतन है। किन्तु काल द्रव्य बहु प्रदेशी नहीं है; क्योंकि लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु रत्नों की राशि की तरह अलग-अलग स्थित है। वे आपस में मिलते नहीं है। अतः काल द्रव्य काय नहीं है, और प्रत्येक कालाणु एक-एक काल द्रव्य है। इससे काल द्रव्य एक नही है, किन्तु जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं, उतने ही काल द्रव्य हैं। अतः काल द्रव्य असंख्यात हैं और वे निष्क्रिय हैं-एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर नहीं जाते, जहाँ के तहाँ ही बने रहते हैं।

अब व्यवहार काल का प्रमाण बतलाते हैं—

सोऽनन्तसमयः ॥४०॥

अर्थ—वह काल द्रव्य अनन्त समय वाला है-अर्थात् काल के समयों का अन्त नहीं है।

विशेषार्थ—भूत, भविष्यत् और वर्तमान-ये व्यवहार काल के भेद हैं। सो वर्तमान काल का प्रमाण तो एक समय है; क्योंकि एक समय के समाप्त होने पर वह भूत हो जाता है और जो दूसरा समय उसका स्थान लेता है, वह वर्तमान कहलाता है। किन्तु भूत और भविष्यत् काल अनन्त समय वाला है। इसी से व्यवहार काल को अनंत समय वाला कहा है। अथवा यह सूत्र मुख्य काल का ही प्रमाण बतलाता है; क्योंकि एक कालाणु अनंत पर्यायों की वर्तना में कारण है इसलिए उपचार से कालाणु को अनंत कह सकते हैं। काल के सबसे सूक्ष्म अंश का नाम समय है। और समयों के समूह का नाम आवली, घड़ी आदि हैं। वह सब व्यवहार काल है, जो मुख्य काल द्रव्य की ही पर्याय रूप है।

अब गुण का लक्षण कहते हैं—

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥४१॥

अर्थ—जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं तथा जिनमें अन्य गुण नहीं रहते, उन्हें गुण कहते हैं।

शंका—गुण का यह लक्षण पर्याय में भी पाया जाता है; क्योंकि पर्याय भी द्रव्य के आश्रय से ही रहती है और उसमें गुण भी नहीं रहते। अत: यह लक्षण ठीक नहीं है?

समाधान—गुण तो सदा ही द्रव्य के आश्रय से रहता है, कभी भी द्रव्य को नहीं छोड़ता। किन्तु पर्याय अनित्य होती है, एक जाती है दूसरी आती है। अतः गुण का उक्त लक्षण पर्याय में नहीं रहता।

अनेक जगह परिणाम शब्द आया है। अतः उसका लक्षण कहते हैं—

तद्भावः परिणामः॥४२॥

अर्थ—धर्मादि द्रव्य जिस स्वरूप से होते हैं, उसे तद्भाव कहते हैं और उस तद्भाव का ही नाम परिणाम है।

विशेषार्थ—जिस द्रव्य का जो स्वभाव है, वही परिणाम है। जैसे धर्म द्रव्य का स्वभाव जीव पुद्गलों की गति में निमित्त होना है। वही तद्भाव है। धर्म द्रव्य का परिणमन सदा उसी रूप में होता है। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों में भी समझ लेना चाहिए।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे पंचमोऽध्यायः ॥५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

अजीव तत्त्व का व्याख्यान करके, अब आस्रव तत्त्व का कथन करते हैं–

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥१॥

अर्थ–काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं।

विशेषार्थ–वास्तव में तो आत्मा के प्रदेशों में जो हलन-चलन होती है, उसका नाम योग है। वह योग या तो शरीर के निमित्त से होता है या वचन के निमित्त से होता है अथवा मन के निमित्त से होता है। इसलिए निमित्त के भेद से योग के तीन भेद हो जाते हैं– काययोग, वचनयोग और मनोयोग। प्रत्येक योग के होने में दो कारण होते हैं– एक अन्तरंग कारण, दूसरा बाह्य कारण। अल्पज्ञानियों में अन्तरंग कारण कर्मों का क्षयोपशम है और केवल-ज्ञानियों में अन्तरंग कारण कर्मों का क्षय है। तथा बाह्य कारण वे नो-कर्म वर्गणाएँ हैं, जिनसे शरीर, वचन और मन की रचना होती है तथा जिन्हें जीव हर समय ग्रहण करता रहता है। अतः वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर सात प्रकार की कायवर्गणाओं में से किसी एक वर्गणा की सहायता से जो आत्म प्रदेशों में हलन-चलन होता है, उसे काययोग कहते हैं। वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण आदि कर्मों का क्षयोपशम होने से जब जीव में वाग्लब्धि प्रकट होती है और वह बोलने के लिए तत्पर होता है तब वचन वर्गणा के निमित्त से जो आत्म प्रदेशों में हलन-चलन होता है, उसे वचन योग कहते हैं। वीर्यान्तराय और नौ इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशमरूप मनोलब्धि के होने पर तथा मनोवर्गणा का आलम्बन पाकर चिन्तन के लिए तत्पर हुए आत्मा के प्रदेशों में जो हलन-चलन होता है, उसे मनोयोग कहते हैं। उक्त कर्मों का क्षय होने पर तीनों वर्गणाओं की अपेक्षा से सयोग केवली के आत्म प्रदेशों में जो हलन चलन होता है, वह कर्मक्षय निमित्तक योग है। इस तरह योग तेरहवें गुणस्थान तक ही रहता है। इसी से चौदहवें गुणस्थान का नाम अयोगकेवली है। अयोग केवली के तीनों प्रकार की वर्गणाओं का आना रुक जाता है, इससे वहाँ योग का

अभाव हो जाता है।

यह योग ही आस्रव है—

स आस्रवः ॥२॥

अर्थ—यह योग ही आस्रव है। जैसे सरोवर में जिस द्वार से पानी आता है, वह द्वार पानी के आने में कारण होने से, आस्रव कहा जाता है; वैसे ही योग के निमित्त से आत्मा में कर्मों का आगमन होता है, इसलिए योग ही आस्रव है। आस्रव का अर्थ 'आगमन' है।

योग के द्वारा जो कर्म आता है, वह कर्म दो प्रकार का है—पुण्य कर्म और पाप कर्म। अतः अब यह बताते हैं कि किस योग से किस कर्म का आस्रव होता है—

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥३॥

अर्थ—शुभ योग से पुण्य कर्म का आस्रव होता है और अशुभ योग से पाप कर्म का आस्रव होता है।

विशेषार्थ—किसी के प्राणों का घात करना, चोरी करना, मैथुन सेवन करना आदि अशुभ काय योग है। झूठ बोलना, कठोर असभ्य वचन बोलना आदि अशुभ वचन योग है। किसी के मारने का विचार करना, किसी से ईर्ष्या रखना आदि अशुभ मनोयोग है। इनसे पाप-कर्म का आस्रव होता है। तथा प्राणियों की रक्षा करना, हित मित वचन बोलना, दूसरों का भला सोचना आदि शुभ योग है। इनसे पुण्य-कर्म का आस्रव होता है।

शंका—योग शुभ अशुभ कैसे होता है?

समाधान—शुभ परिणाम से होने वाला योग शुभ है और अशुभ परिणाम से होने वाला योग अशुभ है।

शंका—जो शुभ कर्मों का कारण है, वह शुभ योग है और जो पाप कर्मों के आगमन में कारण है, वह अशुभ योग है। यदि ऐसा लक्षण किया जाय तो क्या हानि है?

समाधान—यदि ऐसा लक्षण किया जायेगा तो शुभ योग का अभाव ही हो जायेगा; क्योंकि आगम में लिखा है कि जीव के आयुकर्म के सिवा शेष सात कर्मों का आस्रव सदा होता रहता है। अतः शुभ योग से भी ज्ञानावरण आदि पाप कर्मों का बन्ध होता है। इसलिए ऊपर का लक्षण ही ठीक है।

शंका—जब शुभयोग से भी घाति कर्मों का बन्ध होता है, तो सूत्रकार ने ऐसा क्यों कहा कि शुभ योग से पुण्य कर्म का बन्ध होता है?

समाधान—यह कथन घाति कर्मों की अपेक्षा से नहीं है। किन्तु अघाति कर्मों की अपेक्षा से है। अघातिया कर्म के दो भेद हैं– पुण्य और पाप। सो उनमें से शुभयोग से पुण्यकर्म का आस्रव होता है और अशुभ योग से पापकर्म का आस्रव होता है। शुभ योग के होते हुए भी घातिया कर्मों का अस्तित्व रहता है, उनका उदय भी होता है, उसी से घातिया कर्मों का बन्ध होता है।

आगे स्वामी की अपेक्षा आस्रव के भेद कहते हैं—

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥४॥

अर्थ—कषाय सहित जीवों के साम्परायिक आस्रव होता है। और कषाय रहित जीवों के ईर्यापथ आस्रव होता है।

विशेषार्थ—स्वामी के भेद से आस्रव में भेद है। आस्रव के स्वामी दो हैं– एक सकषाय जीव, दूसरे कषाय रहित जीव। जैसे वट आदि वृक्षों की कषाय यानि गोंद वगैरह चिपकाने में कारण होती है, उसी तरह क्रोध आदि भी आत्मा से कर्मों को चिपटा देते हैं, इसलिए उन्हें कषाय कहते हैं। तथा जो आस्रव संसार का कारण होता है, उसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं और जो आस्रव केवल योग से ही होता है, उसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। इस ईर्यापथ आस्रव के द्वारा जो कर्म आते हैं, उनमें एक समय की भी स्थिति नहीं पड़ती; क्योंकि कषाय के न होने से कर्म जैसे ही आते हैं, वैसे ही चले जाते हैं। इसी से कषाय सहित जीवों के जो आस्रव होता है; उसका

नाम साम्परायिक है; क्योंकि वह संसार का कारण है। और कषाय रहित जीवों के अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक जो आस्रव होता है, वह केवल योग से ही होता है, इसलिए उसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं।

साम्परायिक आस्रव के भेद कहते हैं–

इन्द्रिय-कषायाव्रत-क्रियाः पञ्च-चतुः पञ्च-पञ्चविंशति-संख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥

अर्थ–इन्द्रिय पाँच, कषाय चार, अव्रत पाँच, क्रिया पच्चीस, ये सब साम्परायिक आस्रव के भेद हैं।

विशेषार्थ–पाँच इन्द्रियाँ पहले कह आये हैं। चार कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ हैं; हिंसा, असत्य वगैरह पाँच अव्रत आगे कहेंगे।

यहाँ पच्चीस क्रियाएँ बतलाते हैं– देव, शास्त्र और गुरु की पूजा आदि करने रूप जिन क्रियायों से सम्यक्त्व की पुष्टी होती है, उन्हें सम्यक्त्व क्रिया कहते हैं। कुदेव आदि की पूजा करने रूप जिन क्रियाओं से मिथ्यात्व की वृद्धि होती है, उन्हें मिथ्यात्व क्रिया कहते हैं। काय आदि से गमन आगमन करना प्रयोग क्रिया है। संयमी होते हुए असंयम की ओर अभिमुख होना समादान क्रिया है। जो क्रिया ईर्यापथ में निमित्त होती है, वह ईर्यापथ क्रिया है। (५) क्रोध के आवेश में जो क्रिया की जाती है, वह प्रादोषिकी क्रिया है। दुष्टतापूर्वक उद्यम करना कायिकी क्रिया है। हिंसा के उपकरण लेना आधिकरणिकी क्रिया है। जो क्रिया प्राणियों को दुःख पहुँचाती है, वह पारितापिकी क्रिया है। किसी की आयु, इन्द्रिय, बल आदि प्राणों का वियोग, करना यानि जान ले लेना प्राणातिपातिकी क्रिया है (१०) प्रमादी जीव राग के वश में होकर जो सुन्दर रूप को देखने का प्रयत्न करता है, वह दर्शन क्रिया है। प्रमाद से आलिंगन करने की भावना स्पर्शन क्रिया है। विषय की नई नई सामग्री जुटाना प्रात्ययिकी क्रिया है। स्त्री, पुरुष, पशु आदि के उठने-बैठने के स्थान पर मल-मूत्र आदि करना

समन्तानुपातन क्रिया है। बिना देखी बिना साफ की हुई जमीन पर उठना-बैठना अनाभोग क्रिया है (१५) दूसरे के करने योग्य काम को स्वयं करना स्वहस्त-क्रिया है। जो प्रवृत्ति पाप का कारण है, उसमें सम्मति देना निसर्ग क्रिया है। दूसरे के द्वारा किये गये पाप को प्रकट कर देना विदारण क्रिया है। चारित्र मोह के उदय से शास्त्र विहित आवश्यक क्रियाओं को पालने में असमर्थ होने पर उनका अन्यथा कथन करना, आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है। शठता अथवा आलस्य से आगम में कही हुई विधि का अनादर करना, अनाकांक्ष क्रिया है (२०) छेदन भेदन आदि क्रिया में तत्पर रहना और दूसरा कोई वैसा करता हो तो देखकर प्रसन्न होना, आरम्भ क्रिया है। परिग्रह की रक्षा में लगे रहना परिग्राहिकी क्रिया है। ज्ञान दर्शन वगैरह के विषय में कपट-व्यवहार करना माया क्रिया है। कोई मिथ्यात्व क्रिया करता हो या दूसरे से कराता हो तो उसकी प्रशंसा करके, उसे उस काम में दृढ़ कर देना मिथ्यादर्शन क्रिया है। संयम को घातने वाले कर्म के उदय से संयम का पालन नहीं करना, अप्रत्याख्यान क्रिया है (२५) ये पच्चीस क्रियाएँ हैं, जो साम्परायिक आस्रव के कारण हैं।

सब संसारी जीवों में योग की समानता होते हुए भी आस्रव में भेद होने का हेतु बतलाते हैं—

तीव्र-मन्द-ज्ञाताज्ञात-भावाधिकरण-वीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥६॥

अर्थ—तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और वीर्य, इनकी विशेषता से आस्रव में भेद हो जाता है।

विशेषार्थ—क्रोधादि कषायों की तीव्रता को तीव्रभाव कहते हैं। कषायों की मन्दता को मन्दभाव कहते हैं। अमुक प्राणी को मारना चाहिए, ऐसा संकल्प करके उसे मारना ज्ञातभाव है। अथवा प्राणी का घात हो जाने पर यह ज्ञान होना कि मैंने इसे मार दिया, यह भी ज्ञातभाव है। मद से या प्रमाद से बिना जाने ही किसी का घात हो जाना अज्ञात भाव है। आस्रव के आधार द्रव्य को अधिकरण कहते हैं। और द्रव्य की शक्ति

विशेष को वीर्य कहते हैं। इनके भेद से आस्रव में अन्तर पड़ जाता है। ये जहाँ जैसे होते हैं, वैसा ही आस्रव भी होता है।

अधिकरण के भेद बतलाते हैं—

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥७॥

अर्थ—आस्रव के आधार जीव और अजीव हैं। यद्यपि जीव और अजीव दो ही हैं, फिर भी जिस तिस पर्याय से युक्त जीव अजीव ही अधिकरण होते हैं, और पर्याय बहुत हैं। इसलिए सूत्र में 'जीवाजीवाः' बहुवचन का प्रयोग किया है।

अब जीवाधिकरण के भेद कहते हैं—

आद्यं संरम्भ-समारम्भारम्भ-योग-कृत-कारितानुमत-कषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥८॥

अर्थ—संरम्भ-समारम्भ-आरम्भ ये तीन, मन-वचन-काय ये तीन, कृत- कारित-अनुमोदन ये तीन, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार, इन सबको परस्पर में गुणा करने से प्रथम जीवाधिकरण के एक सौ आठ भेद होते हैं।

विशेषार्थ—प्रमादी होकर हिंसा वगैरह करने का विचार करना संरम्भ है। हिंसा वगैरह की साधन सामग्री जुटाना समारम्भ है। हिंसा वगैरह करना आरंभ है। स्वयं करना कृत है। दूसरे से कराना कारित है। कोई करता हो तो उसकी सराहना करना अनुमोदना है। इसमें मूल वस्तु संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ है। इन तीनों में से प्रत्येक के काय, वचन और मन के भेद से तीन तीन प्रकार हैं। इन तीन तीन प्रकारों में से भी प्रत्येक भेद के कृत, कारित और अनुमोदना की अपेक्षा से तीन तीन भेद हैं। इस प्रकार संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ के नौ नौ प्रकार हुए। इन नौ नौ प्रकारों में से भी प्रत्येक प्रकार चार कषायों की अपेक्षा से चार चार प्रकार का होता है। अतः प्रत्येक के ३६,३६ भेद होने से तीनों के मिल कर १०८ भेद होते हैं। ये ही जीवाधिकरण के भेद हैं।

इसके अनन्तर अजीवाधिकरण के भेद कहते हैं—

निर्वर्तना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा द्विचतुर्द्वि-त्रि-भेदाः परम् ॥९॥

अर्थ—निर्वर्तना के दो भेद, निक्षेप के चार भेद, संयोग के दो भेद और निसर्ग के तीन भेद, ये सब अजीवाधिकरण के भेद हैं।

विशेषार्थ—उत्पन्न करने, रचना करने अथवा बनाने का नाम निर्वर्तना है। उसके दो भेद हैं– मूलगुण निर्वर्तना और उत्तरगुण निर्वर्तना। शरीर, वचन, मन और श्वास-निश्वास की रचना करना मूलगुण-निर्वर्तना है और लकड़ी वगैरह पर चित्र आदि बनाना उत्तरगुण निर्वर्तना है।

निक्षेप नाम रखने का है। उसके चार भेद हैं– बिना देखे वस्तु को रख देना अप्रत्यवेक्षित निक्षेप है। दुष्टतावश असावधानी से वस्तु को रखना दुःप्रमृष्ट निक्षेप है। किसी भय से या किसी अन्य कार्य करने की शीघ्रता करने से वस्तु को जमीन पर जल्दी से पटक देना सहसा-निक्षेप है। और बिना साफ की हुई तथा बिना देखी हुई भूमि में पड़े रहना अनाभोग - निक्षेप है।

अनेक वस्तुओं के मिलाने को संयोग कहते हैं। उसके दो भेद हैं– उपकरण संयोग और भक्तपान संयोग। शीत और उष्ण उपकरणों को मिला देना या शुद्ध और अशुद्ध उपकरणों को मिलाना उपकरण संयोग है। सचित्त और अचित्त खान पान को एक में मिला देना भक्तपान संयोग है।

निसर्ग नाम प्रवृत्ति करने का है। उसके तीन भेद हैं– मनोनिसर्ग, वाग्निसर्ग और कायनिसर्ग दुष्टतापूर्वक मन की प्रवृत्ति करना मनोनिसर्ग है। दुष्टतापूर्वक वचन की प्रवृत्ति करना वाग्निसर्ग है। और दुष्टतापूर्वक काय की प्रवृत्ति करना कायनिसर्ग है।

इस प्रकार जीव और अजीव द्रव्य के आश्रय से ही कर्म का आस्रव होता है। अब सामान्य आस्रव को कहकर विशेष आस्रव का कथन करते हैं। प्रथम ही ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण कहते हैं—

तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः॥१०॥

अर्थ—ज्ञान और दर्शन के विषय में प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादना और उपघात के करने से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का आस्रव होता है।

विशेषार्थ—कोई पुरुष मोक्ष के साधन तत्त्वज्ञान का उपदेश करता हो तो उसे मुख से कुछ भी न कह कर हृदय में उससे ईर्ष्या आदि रखना प्रदोष है। अपने को शास्त्र का ज्ञान होते हुए भी किसी के पूछने पर यह कह देना कि मैं नहीं जानता, निह्नव है। अपने को शास्त्र का ज्ञान होते हुए भी दूसरों को इसलिए नहीं देना कि वे जान जायेंगे तो मेरे बराबर हो जायेंगे, मात्सर्य है। किसी के ज्ञानाभ्यास में विघ्न डालना अन्तराय है। सम्यग्ज्ञान का समादर न करना, उल्टे उसके उपदेष्टा को रोक देना आसादना है और सम्यग्ज्ञान को एकदम झूठा बतलाना उपघात है। इनसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का आस्रव होता है।

आगे असाता वेदनीय कर्म के आस्रव के कारण कहते हैं—

दुःख-शोक-तापाक्रन्दन-वध-परिदेवनान्यात्म-परोभय-स्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥

अर्थ— दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन इन्हें स्वयं करने से, दूसरों में करने से तथा दोनों में करने से असाता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

विशेषार्थ—पीड़ा रूप परिणाम को दुःख कहते हैं। अपने किसी उपकारी का वियोग हो जाने पर मन का विकल होना शोक है। लोक में निन्दा वगैरह के होने से तीव्र पश्चाताप का होना ताप है। पश्चाताप से दुःखी होकर रोना धोना आक्रन्दन है। किसी के प्राणों का घात करना वध है। अत्यन्त दुखी होकर ऐसा रुदन करना, जिसे सुनकर सुनने वालों के हृदय द्रवित हो जायें, परिदेवन है। इस प्रकार के परिणाम जो स्वयं करता है

या दूसरों को दुःखी करता या रुलाता है अथवा स्वयं भी दुःखी होता है और दूसरों को भी दुःखी करता है, उसके असातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

शंका—यदि स्वयं दुःख उठाने और दूसरों को दुःख में डालने से असातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है, तो तीर्थंकरों ने केशलोंच, उपवास तथा धूप वगैरह में खड़े होकर तपस्या क्यों की और क्यों दूसरों को वैसा करने का उपदेश दिया? क्योंकि ये सब बातें दुःख देने वाली हैं।

समाधान—क्रोध आदि कषाय के आवेश में आकर जो दुःख स्वयं उठाया जाता है अथवा दूसरों को दिया जाता है, उससे असाता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है। जैसे एक दयालु डाक्टर किसी रोगी का फोड़ा चीरता है। फोड़ा चीरने से रोगी को बड़ा कष्ट होता है। फिर भी डाक्टर को उससे पाप बन्ध नहीं होता; क्योंकि उसका प्रयत्न तो रोगी का कष्ट दूर करने के लिए ही है। इसी तरह तीर्थंकर भी संसार के दुःखों से त्रस्त जीवों के कल्याण की भावना से ही उन्हें मुक्ति का मार्ग बतलाते हैं। अतः उन्हें असाता का आस्रव नहीं होता।

सातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण कहते हैं—

भूतव्रत्यनुकम्पादान-सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥१२॥

अर्थ—प्राणियों पर और व्रती पुरुषों पर दया करना यानि उनकी पीड़ा को अपनी पीड़ा समझना, दूसरों के कल्याण की भावना से दान देना, राग सहित संयम का पालना, आदि शब्द से संयमासंयम, (एकदेश संयम का पालना), अकाम निर्जरा (अपनी इच्छा न होते हुए भी परवश होकर जो कष्ट उठाना पड़े, उसे शान्ति के साथ सहन करना), बालतप (आत्मज्ञान रहित तपस्या करना), इनको मनोयोग पूर्वक करना, क्षान्ति (क्षमा भाव रखना), शौच (सब प्रकार के लोभ को छोड़ना) इस प्रकार के कामों से सातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है। यहाँ इतना विशेष जानना कि यद्यपि

प्राणियों में व्रती भी आ जाते हैं फिर भी जो व्रतियों का अलग ग्रहण किया है, सो उनकी ओर विशेष लक्ष्य दिलाने के उद्देश्य से किया है।

आगे दर्शनमोहनीय कर्म के आस्रव के कारण कहते हैं—

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१३॥

अर्थ—केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देवों को झूठा दोष लगाने से दर्शनमोह का आस्रव होता है।

विशेषार्थ—जिनका ज्ञान पूरा प्रकट होता है, उन अर्हन्त भगवान् को केवली कहते हैं। अर्हन्त भगवान् भूख-प्यास आदि दोषों से रहित होते हैं। अतः यह कहना कि वे हम लोगों की तरह ही ग्रासाहार करते हैं और उन्हें भूख-प्यास की बाधा सताती है, उनको झूठा दोष लगाना है। उन केवली के द्वारा जो उपदेश दिया है, उसे याद रखकर गणधर जो ग्रन्थ रचते हैं, उन्हें श्रुत कहते हैं। उस श्रुत में मांसभक्षण का विधान है-ऐसा कहना श्रुत को झूठा दोष लगाना है। रत्नत्रय के धारी जैन श्रमणों के समुदाय को संघ कहते हैं। वे जैन साधु नंगे रहते हैं, स्नान नहीं करते। अतः उन्हें शूद्र, निर्लज्ज, अपवित्र आदि कहना संघ को झूठा दोष लगाना है। जिन-भगवान् के द्वारा कहा हुआ जो अहिंसामयी धर्म है, उसकी निन्दा करना धर्म में झूठा दोष लगाना है। देवों को मांसभक्षी, मदिराप्रेमी, परस्त्रीगामी आदि कहना देवों में झूठा दोष लगाना है। इन कामों में दर्शनमोह का आस्रव होता है।

आगे चारित्र-मोह के आस्रव का कारण कहते हैं—

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१४॥

अर्थ—कषाय के उदय से परिणामों में कलुषता के होने से चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव होता है।

इसके बाद आयुकर्म के आस्रव के कारण बतलाते हुए पहले नरकायु के आस्रव के कारण कहते हैं—

बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥१५॥

अर्थ—बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह नरकायु के आस्रव के कारण हैं।

तिर्यञ्च आयु के आस्रव का कारण कहते हैं—

माया तैर्यग्योनस्य ॥१६॥

अर्थ—मायाचार तिर्यञ्च आयु के आस्रव का कारण है।

मनुष्यायु के आस्रव के कारण कहते हैं—

अल्पारम्भ-परिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥

अर्थ—थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह मनुष्यायु के आस्रव का कारण है।

मनुष्यायु के आस्रव के और भी कारण हैं—

स्वभाव-मार्दवं च ॥१८॥

अर्थ—स्वभाव से ही परिणामों का कोमल होना भी मनुष्यायु के आस्रव का कारण है।

और भी विशेष कहते हैं—

निःशीलव्रतत्त्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥

अर्थ—यहाँ 'च' शब्द से थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह लेना चाहिए। अतः थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह होने से तथा शील व्रतों का पालन न करने से चारों ही आयु का आस्रव होता है।

शंका—क्या देवायु का भी आस्रव होता है?

समाधान– हाँ, होता है। भोगभूमियाँ जीवों के व्रत और शील नहीं है। फिर भी उनके देवायु का ही आस्रव होता है।

देवायु के आस्रव के कारण कहते हैं—

सरागसंयम-संयमासंयमाकामनिर्जरा-बालतपांसि दैवस्य ॥२०॥

अर्थ—सराग-संयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप-ये देवायु के आस्रव के कारण हैं। रागपूर्वक संयम के पालने को सराग-संयम कहते हैं। त्रस हिंसा का त्याग करने और स्थावर हिंसा के त्याग न करने को संयमासंयम कहते हैं। पराधीनतावश जेलखाने वगैरह में इच्छा न होते हुए भी भूख प्यास वगैरह के कष्ट को शान्ति पूर्वक सहना अकाम-निर्जरा है। आत्मज्ञान रहित तप को बालतप कहते हैं। इनसे देवायु का आस्रव होता है।

देवायु के आस्रव का और भी कारण है—

सम्यक्त्वं च ॥२१॥

अर्थ—सम्यक्त्व भी देवायु के आस्रव का कारण है। यहाँ यद्यपि यह नहीं कहा है कि सम्यक्त्व अमुक देवायु का कारण है फिर भी अलग सूत्र बनाने से यह अर्थ निकलता है कि सम्यक्त्व से वैमानिक देवों की आयु का आस्रव होता है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर भवन-त्रिक में जन्म नहीं लेता।

शंका—तो क्या सरागसंयम आदि सूत्र में जो देवायु के आस्रव के कारण बतलाये हैं। वे सब प्रकार की देवायु के आस्रव के कारण हैं? यदि ऐसा है तब तो सरागसंयम और संयमासंयम भी भवनवासी आदि देवों की आयु के कारण हुए?

समाधान—नहीं हुए, क्योंकि बिना सम्यक्त्व के सरागसंयम और संयमासंयम नहीं होते। अतः जब सम्यक्त्व वैमानिक देवायु का कारण है तो वे दोनों भी उसी के कारण हुए।

इसके बाद नामकर्म के आस्रव के कारण बतलाते हुए पहले अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण बतलाते हैं—

योगवक्रता-विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥२२॥

अर्थ—मन, वचन और काय की कुटिलता से तथा किसी को धर्म के मार्ग से छुड़ाकर अधर्म के मार्ग में लगाने से अशुभ नामकर्म का आस्रव

होता है।

शंका—योगवक्रता और विसंवादन में क्या अन्तर है?

समाधान—जो मनुष्य किसी को धोखा देता है, उसमें तो योगवक्रता होती है, तभी तो वह दूसरे को धोखा देता है। और दूसरे को धोखा देना विसंवादन है। अर्थात् दोनों में एक कारण है, दूसरा कार्य।

शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण बतलाते हैं—

तद्विपरीतं शुभस्य ॥२३॥

अर्थ—जो अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण कहे हैं, उनसे उल्टे शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं। अर्थात् मन, वचन और काय की सरलता से और किसी को धोखा न देने से शुभ नामकर्म का आस्रव होता है।

नामकर्म के भेदों में एक तीर्थंकर नामकर्म है, उसका आस्रव कुछ विशेष कारणों से होता है। अतः उसे अलग से बतलाते हैं—

दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोग-संवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्य-बहुश्रुत-प्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना-प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥

अर्थ—दर्शनविशुद्धि (भगवान् अर्हन्त देव के द्वारा कहे गये निर्ग्रन्थता रूप मोक्षमार्ग में आठ अंग सहित रुचि का होना), विनय सम्पन्नता (मोक्ष के साधन सम्यग्ज्ञान वगैरह का और सम्यग्ज्ञान के साधन गुरु वगैरह का आदर सत्कार करना), शीलव्रतेषु-अनतिचार (अहिंसा आदि व्रतों का एवं व्रतों का पालन करने के लिए बतलाये गये शीलों का अतिचार रहित पालन करना), अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग (सदा सम्यग्ज्ञान के पठन-पाठन में लगे रहना), संवेग (संसार के दुःखों से सदा उद्विग्न रहना), शक्तितःत्याग

(शक्ति के अनुसार विधिपूर्वक दान देना), शक्तितःतप (अपनी शक्ति के अनुसार जैनमार्ग के अनुकूल तपस्या करना), साधु समाधि (तपस्वी मुनि के तप में किसी कारण से कोई विघ्न आ जाये तो उसे दूर करके उनके संयम की रक्षा करना), वैयावृत्यकरण (गुणवान साधुजनों पर विपत्ति आने पर निर्दोष विधि से उसको दूर करना), अर्हद्-भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति (अर्हन्तदेव, आचार्य, उपाध्याय और आगम के विषय में विशुद्ध भाव पूर्वक अनुराग होना), आवश्यकापरिहाणि (सामायिक, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक कर्मों में कभी हानि न आने देना और प्रतिदिन नियत समय पर उन्हें बराबर करना), मार्ग प्रभावना (सम्यग्ज्ञान के द्वारा, तप के द्वारा या जिनपूजा के द्वारा जगत् में जैनधर्म का प्रकाश को फैलाना), प्रवचन वत्सलत्व (जैसे गौ को अपने बच्चे से सहज स्नेह होता है, वैसे ही साधर्मी जन को देखकर चित्त का प्रफुल्लित हो जाना) ये सोलह भावनाएँ तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव में कारण हैं। इन सबका अथवा इनमें से कुछ का पालन करने से तीर्थंकर नामकर्म का आस्रव होता है, किन्तु उनमें एक दर्शनविशुद्धि का होना आवश्यक है।

नीच-गोत्र के आस्रव के कारण कहते हैं—

परात्म-निन्दा-प्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥

अर्थ—दूसरों की निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरों के मौजूदा गुणों को भी ढांकना और अपने में गुण नहीं होते हुए भी उनको प्रकट करना, ऐसे भावों से नीच-गोत्र का आस्रव होता है।

इसके बाद उच्च गोत्र के आस्रव के कारण कहते हैं—

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥

अर्थ—नीच-गोत्र के आस्रव के कारणों से विपरीत कारणों से तथा नीचैर्वृत्ति और अनुत्सेक से उच्च-गोत्र का आस्रव होता है। अर्थात् दूसरों

की प्रशंसा करना, अपनी निन्दा करना, दूसरों के अच्छे गुणों को प्रकट करना और असमीचीन गुणों को ढांकना, किन्तु अपने समीचीन गुणों को भी प्रकट न करना, गुणीजनों के सामने विनय से नम्र रहना और उत्कृष्ट ज्ञानी तपस्वी होते हुए भी घमण्ड का न होना, ये सब उच्च-गोत्र के आस्रव के कारण हैं।

अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण कहते हैं—

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥२७॥

अर्थ—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न डालने से अन्तराय कर्म का आस्रव होता है। अर्थात् दान में विघ्न करने से दानान्तराय कर्म का आस्रव होता है। किसी के लाभ में बाधा डालने से लाभान्तराय कर्म का आस्रव होता है। इसी तरह शेष में भी जानना चाहिए।

शंका—आगम में कहा है कि जीव के आयुकर्म के सिवा शेष सात कर्मों का आस्रव सदा होता रहता है। तब प्रदोष आदि करने से ज्ञानावरण आदि कर्म का ही आस्रव कैसे हो सकता है?

समाधान—यद्यपि प्रदोष आदि से ज्ञानावरण आदि सभी कर्मों का प्रदेश बन्ध होता है। अर्थात् प्रदोष आदि से एक समय में जिस समय-प्रबद्ध का आस्रव होता है, उसके परमाणु आयु के सिवा शेष सातों कर्मों में बट जाते हैं, तथापि ये कथन अनुभाग की अपेक्षा से है। अर्थात् प्रदोष आदि करने से ज्ञानावरण कर्म में फल देने की शक्ति अधिक पड़ती है, दु:ख देने से असाता वेदनीय कर्म में फल देने की शक्ति अधिक पड़ती है। वैसे बंध सातों ही कर्मों का होता है।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

पूर्व अध्याय में आस्रव का कथन हो चुका। उसमें पुण्यकर्म के आस्रव का मामूली-सा कथन किया था। इस अध्याय में उसका विशेष कथन करने के लिए व्रत का स्वरूप बतलाते हैं—

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥

अर्थ—हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से विरत होने को व्रत कहते हैं।

विशेषार्थ—हिंसा आदि पापों का बुद्धिपूर्वक त्याग करने को व्रत कहते हैं। इन पाँच पापों का स्वरूप आगे बतलायेंगे। उनको त्यागने से अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच व्रत होते हैं। इन सब में प्रधान अहिंसा व्रत है, इसी से उसे सब व्रतों के पहले रखा है। शेष चारों व्रत तो उसी की रक्षा के लिए हैं। जैसे खेत में धान बोने पर उसकी रक्षा के लिये चारों ओर बाड़ लगा देते हैं, वैसे ही सत्य आदि चार व्रत अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए बाड़रूप हैं।

शंका—इन व्रतों को आस्रव का हेतु बतलाना ठीक नहीं है; क्योंकि आगे नौंवे अध्याय में संवर के कारण बतलायेंगे। उनमें जो दश धर्म हैं, उन दश धर्मों में से संयम धर्म में व्रतों का अन्तर्भाव होता है? अतः व्रत संवर के कारण हैं, आस्रव के कारण नहीं हैं?

समाधान—यह ठीक नहीं है, संवर तो निवृत्ति रूप होता है, उसका कथन आगे किया जायेगा। और ये व्रत निवृत्ति रूप नहीं है, किन्तु प्रवृत्ति रूप है। क्योंकि इनमें हिंसा, झूठ, चोरी वगैरह को त्याग कर अहिंसा पालने का, सच बोलने का, दी हुई वस्तु को लेने का विधान है। तथा जो इन व्रतों का अच्छी तरह से अभ्यास कर लेता है, वही संवर को आसानी से कर सकता है। अतः व्रतों को अलग गिनाया है।

अब व्रतों के भेद बतलाते हैं—

देशसर्वतोऽणुमहती ॥२॥

अर्थ—इन पाँच पापों को एकदेश से त्याग करने को अणुव्रत कहते हैं और पूरी तरह से त्याग करने को महाव्रत कहते हैं।

इन व्रतों की रक्षा के लिये आवश्यक भावनाओं को बतलाते हैं—

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥३॥

अर्थ—इन व्रतों को स्थिर करने के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं। उन भावनाओं का सदा ध्यान रखने से व्रत दृढ़ हो जाते हैं।

सर्वप्रथम अहिंसा व्रत की भावनाएँ कहते हैं—

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपान-भोजनानि पञ्च ॥४॥

अर्थ—वचन गुप्ति, मनो गुप्ति, ईर्यासमिति, आदान–निक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन ये पाँच अहिंसा व्रत की भावनाएँ हैं।

विशेषार्थ—वचन की प्रवृत्ति को अच्छी रीति से रोकना वचन गुप्ति है। मन की प्रवृत्ति को अच्छी रीति से रोकना मनोगुप्ति है। पृथ्वी को देखकर सावधानता पूर्वक चलना ईर्यासमिति है। सावधानता पूर्वक देख कर वस्तु को उठाना और रखना आदान-निक्षेपण समिति है। दिन में अच्छी तरह देखभाल कर खाना-पीना आलोकितपानभोजन है। इन पाँच बातों का ध्यान अहिंसा व्रती को रखना चाहिए।

दूसरे सत्यव्रत की भावनाएँ कहते हैं—

क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचि-भाषणं च पञ्च ॥५॥

अर्थ—क्रोध का त्याग, लोभ का त्याग, भय का त्याग, हँसी दिल्लगी का त्याग और हित मित वचन बोलना, ये पाँच सत्य व्रत की भावनाएं हैं। आशय यह है कि मनुष्य क्रोध से, लालच से, भय से और हँसी करने के लिए झूठ बोलता है। अतः इनसे बचते रहना चाहिए और जब बोले तो

सावधानी से बोले, जिससे कोई बात ऐसी न निकल जाये जो दूसरे को कष्टकर हो।

तीसरे अचौर्यव्रत की भावनाएँ कहते हैं—

शून्यागारविमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्ष्यशुद्धि-सधर्माविसंवादाः पंच ॥६॥

अर्थ—शून्यागार अर्थात् पर्वत की गुफा, वन और वृक्षों के कोटरों में निवास करना, विमोचितावास अर्थात् दूसरों के छोड़े हुए ऊजड़ स्थान में निवास करना, परोपरोधाकरण अर्थात् जहाँ आप ठहरे वहाँ यदि कोई दूसरा ठहरना चाहे तो उसे रोकना नहीं और जहाँ कोई पहले से ठहरा हो तो उसे हटाकर स्वयं ठहरे नहीं, भैक्ष्य शुद्धि अर्थात् शास्त्रोक्त रीति से शुद्ध भिक्षा लेना और सधर्माविसंवाद अर्थात् साधर्मी भाइयों से लड़ाई झगड़ा नहीं करना ये पाँच अचौर्य व्रत की भावनाएँ हैं।

इसके बाद ब्रह्मचर्यव्रत की भावनाएँ कहते हैं—

स्त्रीरागकथाश्रवण-तन्मनोहरांगनिरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरस-स्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥७॥

अर्थ—स्त्रियों के विषय में राग उत्पन्न करने वाली कथा को न सुनना, स्त्रियों के मनोहर अंगों को न ताकना, पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण न करना,कामोद्दीपन करने वाले रसों का सेवन न करना और अपने शरीर को इत्र तेल वगैरह से न सजाना, ये पाँच ब्रह्मचर्यव्रत की भावनाएं हैं।

अन्त में परिग्रहत्याग व्रत की भावनाएँ कहते हैं—

मनोज्ञा-मनोज्ञेन्द्रिय-विषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥८॥

अर्थ—पाँचों इन्द्रियों के इष्ट-विषयों से राग नहीं करना और अनिष्ट विषयों से द्वेष नहीं करना-ये पाँच परिग्रहत्याग व्रत की भावनाएँ हैं।

जैसे इन व्रतों को दृढ़ करने के लिए ये भावनाएँ कहीं हैं, वैसे ही इन व्रतों के विरोधी जो हिंसा आदि हैं, उनसे विमुख करने के लिए भी भावनाएँ कहते हैं—

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥९॥

अर्थ—हिंसा आदि पाँच पाप इस लोक और परलोक में विनाशकारी तथा निन्दनीय हैं, ऐसी भावना करनी चाहिए।

विशेषार्थ—अर्थात् हिंसा के विषय में विचारना चाहिए कि जो हिंसा करता है, लोग सदा उसके बैरी रहते हैं। इस लोक में उसे फाँसी वगैरह होती है और मर कर भी वह नरक आदि में जन्म लेता है। अतः हिंसा से बचना ही श्रेष्ठ है। इसी तरह झूठ बोलने वाले का कोई विश्वास नहीं करता। इसी लोक में पहले राजा उसकी जीभ कटा लेता था। तथा उसके झूठ बोलने से जिन लोगों को कष्ट पहुँचता है, वे भी उसके दुश्मन हो जाते हैं और उसे भरसक कष्ट देते हैं। तथा मर कर वह अशुभगति में जन्म लेता है, अतः झूठ बोलने से बचना ही उत्तम है। इसी तरह चोर का सब तिरस्कार करते हैं। इसी लोक में उसे राजा की ओर से कठोर दण्ड मिलता है तथा मर कर भी अशुभगति में जाता है। अतः चोरी से बचना ही उत्तम है। तथा व्यभिचारी मनुष्य का चित्त सदा भ्रान्त रहता है। जैसे जंगली हाथी जाली हथिनी के धोखे में पड़कर पकड़ा जाता है, वैसे ही व्यभिचारी भी जब पकड़ा जाता है तो उसकी पूरी दुर्गति लोग कर डालते हैं। पुराने जमाने में तो ऐसे आदमी का लिंग ही काट डाला जाता था। आज कल भी उसे कठोर दण्ड मिलता है। मर कर भी वह दुर्गति में जाता है, अतः व्यभिचार से बचना ही हितकर है। तथा जैसे कोई पक्षी मांस का टुकड़ा लिये हो तो अन्य पक्षी उसके पीछे पड़ जाते हैं, वैसे ही परिग्रही मनुष्य के पीछे चोर लगे रहते हैं। उसे धन के कमाने, जोड़ने और उसकी रखवाली करने में भी कम कष्ट नहीं उठाना पड़ता। फिर भी उसकी तृष्णा कभी शान्त नहीं होती, तृष्णा के वशीभूत होकर उसे न्याय अन्याय का ध्यान नहीं रहता। इसी से मरकर वह दुर्गति में जाता है। यहाँ भी 'लोभी लोभी' कहकर लोग उसकी निन्दा करते हैं। अतः परिग्रह से बचना ही श्रेष्ठ है। इस तरह हिंसा आदि पापों की बुराई भी सोचते रहना चाहिए।

और भी कहते हैं—

दुःखमेव वा ॥१०॥

अर्थ—हिंसा आदि पाप दुःख रूप ही हैं—ऐसी भावना रखनी चाहिए। क्योंकि हिंसादि दुःख के कारण हैं, इसलिए दुःख रूप ही हैं।

इसके सिवा अन्य भावनाएँ भी बताते हैं—

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिक-क्लिश्यमानाविनेयेषु ॥११॥

अर्थ—समस्त प्राणियों में ऐसी (मैत्री) भावना रखना चाहिए कि किसी भी प्राणी को दुःख न हो। गुणवान पुरुषों को देखकर हर्षित होना चाहिए और अपनी भक्ति प्रकट करना चाहिए। दुःखी प्राणियों को देखकर उनका दुःख दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए और जो उद्धत लोग हैं, उनमें माध्यस्थ भाव रखना चाहिए। ऐसा करने से अहिंसा आदि व्रत परिपूर्ण होते हैं।

अन्य भावनाओं का निर्देश करते हैं—

जगत्काय-स्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥

अर्थ—संवेग और वैराग्य के लिए जगत् का और शरीर का स्वभाव विचारते रहना चाहिए।

विशेषार्थ—यह लोक अनादि-निधन है। बेंत के आसन के ऊपर एक गोल झांझ रखो और उस पर एक मृदंग खड़ा करो, ऐसा ही लोक का आकार है। इसमें भटकते हुए जीव अनन्तकाल से नाना योनियों में दुःख भोग रहे हैं। यहाँ कुछ भी नियत नहीं है। जीवन जल के बुलबुले के समान है, भोग सम्पदा बिजली की तरह चंचल है। इस तरह जगत् का स्वभाव विचारने से संसार से अरुचि पैदा होती है। इसी तरह यह शरीर अनित्य है, दुःख का कारण है, निःसार है, अपवित्र है, इत्यादि काय का स्वरूप विचारने से विषयों में राग नहीं होता। अतः व्रती को जगत् का और काय (शरीर) का स्वभाव भी विचारते रहना चाहिए।

अब हिंसा का लक्षण कहते हैं—

प्रमत्तयोगात्प्राण-व्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥

अर्थ—प्रमादीपने से प्राणों के घात करने को हिंसा कहते हैं।

विशेषार्थ—हिंसा दो प्रकार की है-एक द्रव्य हिंसा, दूसरी भाव हिंसा। संसार में सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्त से मरते भी हैं। किन्तु उनके मर जाने से ही हिंसा नहीं हो जाती। इसी से सूत्र में 'प्रमत्तयोगात्' पद दिया है। वह पद यह बतलाता है कि जो मनुष्य जीवों की हिंसा करने के भाव नहीं रखता, बल्कि उनको बचाने के भाव रखता है, उसके द्वारा जो हिंसा होती है, उसका पाप उसे नहीं लगता। इसी से कहा है कि "प्राणों का घात कर देने पर भी हिंसा का पाप नहीं लगता"।

शास्त्रकारों ने इस बात को एक दृष्टांत के द्वारा और भी स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं—एक मनुष्य देख-देख के चल रहा है। उसके पैर उठाने पर कोई क्षुद्र जन्तु उसके पैर के नीचे अचानक आ जाता है और कुचलकर मर जाता है तो मनुष्य को उस जीव के मारने का थोड़ा-सा भी पाप नहीं लगता। इसके विपरीत यदि कोई असावधानी से मार्ग में चलता है, तो उसके द्वारा किसी जीव का घात हो या न हो, उसे हिंसा का पाप अवश्य लगता है। जैसा कि कहा है—"जीव जिये या मरे जो अत्याचारी है, उसे हिंसा का पाप अवश्य लगता है। किंतु जो यत्नाचार से काम करता है, उसे हिंसा होने पर भी हिंसा का पाप नहीं लगता।" अतः हिंसारूप परिणाम ही वास्तव में हिंसा है। द्रव्य हिंसा को तो केवल इसलिए हिंसा कहा है कि उसका भाव-हिंसा के साथ सम्बन्ध है। किन्तु द्रव्य हिंसा के होने पर भावहिंसा का होना अनिवार्य नहीं है। जैनेतर धर्मों में द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा को अलग-अलग न मानने से ही निम्न शंका की गयी है कि "जल में जन्तु हैं, थल में जन्तु हैं, और पहाड़ की चोटी पर चले जाओ तो वहाँ भी जन्तु हैं। इस तरह समस्त लोक जन्तुओं से भरा हुआ है तो कोई अहिंसक कैसे हो सकता है।" जैनधर्म में इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है—जीव दो प्रकार के होते हैं— सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म तो न किसी से रुकते हैं और न किसी को रोकते हैं, अतः उनका तो कोई प्रश्न ही नहीं। रहे

स्थूल, सो जिनकी रक्षा करना संभव है, उनकी रक्षा की जाती है। अतः संयमी पुरुष को हिंसा का पाप कैसे लग सकता है।

अनृत का लक्षण कहते हैं—

असदभिधानमनृतम् ॥१४॥

अर्थ—जिससे प्राणियों को पीड़ा पहुँचती हो, वह बात सच्ची हो अथवा झूठी हो उसे कहना अनृत अथवा असत्य है। जैसे काने मनुष्य को काना कहना झूठ नहीं है फिर भी इससे उसको पीड़ा पहुँचती है, इसलिए ऐसा कहना असत्य ही है। आशय यह है तथा जैसा पहले ही लिख आये हैं कि प्रधान व्रत अहिंसा है। बाकी के चार व्रत उसी के पोषण और रक्षण के लिए हैं। अतः जो वचन हिंसाकारक है, वह असत्य है।

चोरी का लक्षण कहते हैं—

अदत्तादानं स्तेयम् ॥१५॥

अर्थ—बिना दी हुई वस्तु का लेना चोरी है। यहाँ भी 'प्रमत्तयोगात्'।

इत्यादि सूत्र से 'प्रमत्तयोग' पद की अनुवृत्ति होती है। अतः बुरे भाव से जो परायी वस्तु को उठा लेने में प्रवृत्ति की जाती है, वह चोरी है। उस प्रवृत्ति के बाद चाहे कुछ हाथ लगे या न लगे, हर हालत में उसे चोर ही कहा जायेगा।

इसके बाद अब्रह्म का लक्षण बतलाते हैं—

मैथुनमब्रह्म ॥१६॥

अर्थ—चारित्र मोहनीय का उदय होने पर राग भाव से प्रेरित होकर स्त्री पुरुष का जोड़ा जो रति सुख के लिए चेष्टा करता है, उसे मैथुन कहते हैं। और मैथुन को ही अब्रह्म कहते हैं। कभी-कभी दो पुरुषों में अथवा स्त्रियों में भी इस प्रकार की कुचेष्टा देखी जाती है। और कभी-कभी अकेला एक पुरुष ही काम से पीड़ित होकर कुचेष्टा कर बैठता है। वह सब अब्रह्म है। जिसके पालन से अहिंसा आदि धर्मों में वृद्धि होती है, उसे ब्रह्म कहते हैं। और ब्रह्म का नहीं होना ही अब्रह्म है। यह अब्रह्म सब पापों का

पोषक है; क्योंकि मैथुन करने वाला हिंसा करता है, उसके लिए झूठ बोलता है; चोरी करता है, विवाह करके गृहस्थी बसाता है।

अब परिग्रह का लक्षण कहते हैं—

मूर्छा परिग्रहः ॥१७॥

अर्थ—बाह्य गाय, भैंस, मणि, मुक्ता वगैरह चेतन-अचेतन वस्तुओं में तथा आन्तरिक राग, द्वेष, काम, क्रोधादि विकारों में जो ममत्व भाव है; कि ये मेरे हैं, इस भाव का नाम मूर्छा है और मूर्छा ही परिग्रह है। वास्तव में अभ्यन्तर ममत्व भाव ही परिग्रह है, क्योंकि पास में एक पैसा न होने पर भी जिसे दुनिया भर की तृष्णा है, वह परिग्रही है। बाह्य वस्तुओं को तो इसलिये परिग्रह कहा है कि वे ममत्व भाव के होने में कारण होती हैं।

अब व्रती का स्वरूप कहते हैं—

निःशल्यो व्रती ॥१८॥

अर्थ—जो शल्य रहित हो उसे व्रती कहते हैं।

विशेषार्थ—शरीर में घुसकर तकलीफ देने वाले कील काँटे आदि को शल्य कहते हैं। जैसे कील काँटा कष्ट देता है, वैसे ही कर्म के उदय से होने वाला विकार भी जीव को कष्टदायक है, इसलिए उसे शल्य नाम दिया है। शल्य तीन प्रकार का है— माया, मिथ्यात्व और निदान। मायाचार या धूर्तता को माया कहते हैं। मिथ्या तत्त्वों का श्रद्धान करना, कुदेवों को पूजना मिथ्यात्व है। और विषयभोग की चाह को निदान कहते हैं। जो इन तीनों शल्यों को हृदय से निकाल कर व्रतों का पालन करता है, वही व्रती है। किन्तु जो दुनिया को ठगने के लिए व्रत लेता है, या व्रत लेकर यह सोचता रहता है कि व्रत धारण करने से मुझे भोगने के लिए अच्छी अच्छी देवांगनाएँ मिलेंगी, या जो व्रत लेकर भी मिथ्यात्व में पड़ा है, वह कभी भी व्रती नहीं हो सकता।

आगे व्रती के भेद बतलाते हैं—

अगार्यनगारश्च ॥१९॥

अर्थ—व्रती के दो भेद हैं–एक अगारी यानि गृहस्थ श्रावक और दूसरा अनगारी यानि गृहत्यागी साधु।

शंका—एक साधु किसी देवालय में या खाली पड़े घर में आकर ठहर गये तो वे अगारी हो जायेंगे। और एक गृहस्थ अपनी स्त्री से झगड़ कर जंगल में जा बसा तो वह अनगारी कहलायेगा ?

समाधान—अगार यद्यपि मकान को कहते हैं, किन्तु यहाँ बाहरी मकान न लेकर मानसिक मकान लेना चाहिए। अतः जिस मनुष्य के मन में घर बसा कर रहने की भावना है, वह भले ही जंगल में चला जाये, अगारी ही कहा जायेगा। और जिसके मन में वैसी भावना नहीं है, वह कुछ समय के लिए किसी मकान में ठहरने पर भी अगारी नहीं कहा जायेगा।

क्रमशः अगारी व्रती का स्वरूप बतलाते हैं—

अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

अर्थ—जो पाँचों पापों का एकदेश त्याग करता है। उस अणुव्रती को अगारी कहते हैं। अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा करने का त्याग करना प्रथम अणुव्रत है। राग, द्वेष अथवा हिंसा करने का त्याग करना प्रथम अणुव्रत है। राग, द्वेष अथवा मोह के वशीभूत होकर ऐसा वचन न बोलना, जिससे किसी का घर बरबाद हो जाये या गाँव पर मुसीबत आ जाये, दूसरा अणुव्रत है। जिससे दूसरे को कष्ट पहुँचे अथवा जिसमें राजदण्ड का भय हो ऐसी बिना दी हुई वस्तु को न लेने का त्याग, तीसरा अणुव्रत है। विवाहित या अविवाहित पर-स्त्री के साथ भोग का त्याग, चौथा अणुव्रत है। धन, धान्य, जमीन, जायदाद वगैरह का आवश्यकता के अनुसार एक प्रमाण निश्चित कर लेना, पाँचवां अणुव्रत है। इन पाँचों अणुव्रतों को जो नियमपूर्वक पालता है, वही अगारी व्रती है।

अगारी व्रती के जो और व्रत हैं, उन्हें कहते हैं—

दिग्देशानर्थदण्डविरति-सामायिक-प्रोषधोपवासोपभोग-परिभोग-परिमाणातिथि-संविभागव्रत-सम्पन्नश्च ॥२१॥

अर्थ—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थ-दण्ड विरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग-परिभोग परिमाण और अतिथि-संविभाग इन सात व्रतों से सहित गृहस्थ अणुव्रती होता है।

विशेषार्थ—पूर्व आदि दिशाओं में नदी, ग्राम, नगर आदि प्रसिद्ध स्थानों की मर्यादा बाँधकर जीवन पर्यन्त उससे बाहर न जाना और उसी के भीतर लेन देन करना दिग्विरति व्रत है। इस व्रत के पालने से गृहस्थ मर्यादा के बाहर किसी भी तरह की हिंसा नहीं करता। इसलिए उस क्षेत्र की अपेक्षा से वह महाव्रती सा हो जाता है। तथा मर्यादा के बाहर व्यापार करने से प्रभूत (बहुत) लाभ होने पर भी व्यापार नहीं करता है, अतः लोभ की भी कमी होती है।

दिग्विरति व्रत की मर्यादा के भीतर कुछ समय के लिए देश का परिमाण कर लेने को देश-विरति व्रत कहते हैं। इसमें भी उतने समय के लिए श्रावक मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में महाव्रती के तुल्य हो जाता है। जिससे अपना कुछ लाभ तो न हो और व्यर्थ ही पाप का संचय होता हो ऐसे कामों को अनर्थ-दण्ड कहते हैं और उनके त्याग को अनर्थ-दण्ड विरति कहते हैं।

अनर्थदण्ड के पाँच भेद हैं— अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादचर्या, हिंसादान और अशुभ श्रुति। दूसरों का बुरा विचारना कि अमुक की हार हो, अमुक को जेलखाना हो जाये, उसका लड़का मर जाये, यह सब अपध्यान है। दूसरों को पाप का उपदेश देना यानि ऐसे व्यापार की सलाह देना जिससे प्राणियों को कष्ट पहुँचे अथवा युद्ध वगैरह के लिए प्रोत्साहन मिले, पापोपदेश है। बिना जरूरत के जंगल कटवाना, जमीन खुदवाना, पानी खराब करना आदि प्रमादाचरित है। विषैली गैस, अस्त्र, शस्त्र आदि हिंसा की सामग्री देना हिंसादान है। हिंसा और राग आदि की बढ़ाने वाली दुष्ट कथाओं का सुनना, सुनाना आदि अशुभश्रुति है। इस प्रकार के अनर्थ दण्डों का त्याग करना अनर्थ-दण्ड विरति है।

तीनों संध्याओं में समस्त पाप के कर्मों से विरत होकर नियत स्थान

पर नियत समय के लिए मन, वचन और काय के एकाग्र करने को सामायिक कहते हैं। जितने समय तक गृहस्थ सामायिक करता है। उतने समय के लिये वह महाव्रती के समान हो जाता है।

प्रोषध नाम पर्व का है। जिसमें पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय से निवृत्त होकर उपवासी रहती हैं, उसे उपवास कहते हैं। प्रोषध अर्थात् पर्व के दिन उपवास करने को प्रोषधोपवास कहते हैं। मोटे तौर पर तो चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास कहलाता है, किन्तु यथार्थ में तो सभी इन्द्रियों का विषय भोग से निवृत्त रहना ही उपवास है। इसी के लिए भोजन का त्याग किया जाता है। अतः उपवास के दिन श्रावक को सब आरम्भ छोड़कर और स्नान, तेल, फुलेल आदि न लगाकर चैत्यालय में अथवा साधुओं के निवास स्थान पर या अपने ही घर के किसी एकान्त स्थान पर धर्म-चर्चा करते हुए उपवास का समय बिताना चाहिए। खानपान, गन्ध माला वगैरह को उपभोग कहते हैं और वस्त्र, आभरण, अलंकार, सवारी, मकान वगैरह को परिभोग कहते हैं। कुछ समय के लिए अथवा जीवन पर्यन्त के लिए उपभोग और परिभोग का परिमाण करना कि मैं इतने समय तक इतनी वस्तुओं से ही अपना काम चलाऊँगा, यह उपभोगपरिभोग का परिमाण व्रत है। जो अपने संयम की रक्षा करते हुए विहार करता है, उसे अतिथि कहते हैं। अथवा जिसके आने का कोई दिन निश्चित नहीं है, वह अतिथि है। मोक्ष के लिए तत्पर संयमी अतिथि को शुद्ध चित्त से निर्दोष भिक्षा देना अतिथि-संविभाग व्रत है। ऐसे अतिथियों को आवश्यकता पड़ने पर योग्य औषध देना, रहने को स्थान देना, धर्म के उपकरण पिच्छिका कमण्डलु और शास्त्र वगैरह देना भी इसी व्रत में सम्मिलित हैं। इस सूत्र में 'च' शब्द गृहस्थ के आगे कहे जाने वाले सल्लेखना धर्म को ग्रहण करने के लिए दिया है।

अतः सल्लेखना का निरूपण करते हैं—

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥

अर्थ—मरण काल उपस्थित होने पर गृहस्थ को प्रीतिपूर्वक सल्लेखना

करना चाहिए।

विशेषार्थ—सम्यक् रीति से काय को और कषाय को क्षीण करने का नाम सल्लेखना है। जब मरणकाल उपस्थित हो तो गृहस्थ को सबसे मोह छोड़कर धीरे-धीरे खाना-पीना भी छोड़ देना चाहिए और इस तरह शरीर को कृश करने के साथ ही कषायों को भी कृश करना चाहिए तथा धर्म-ध्यान-पूर्वक मृत्यु का स्वागत करना चाहिए।

शंका—इस तरह जान बूझकर मौत को बुलाना क्या आत्मवध नहीं कहा जायेगा?

समाधान—नहीं, जब मनुष्य या स्त्री रागवश या द्वेष वश जहर खाकर, कुँए में या नदी में डूबकर या फाँसी लगा कर अपना घात करते हैं, तब आत्मघात होता है। किन्तु सल्लेखना में यह बात नहीं है। जैसे, कोई व्यापारी नहीं चाहता कि जिस घर में बैठ कर वह सुबह से शाम तक धन संचय करना चाहता है, वह नष्ट हो जाये। यदि उसके घर में आग लग जाती है तो भरसक उसको बुझाने की चेष्टा करता है। किन्तु जब देखता है कि घर को बचाना असम्भव है तो फिर घर की परवाह न करके धन को बचाने की कोशिश करता है। इसी तरह गृहस्थ भी जिस शरीर के द्वारा धर्म को साधता है, उसका नाश नहीं चाहता। और यदि उसके नाश के कारण रोग आदि उसे सताते हैं तो अपने धर्म के अनुकूल साधनों से उन रोग आदि को दूर करने की भरसक चेष्टा करता है। किन्तु जब कोई उपाय कारगर होता नहीं दिखायी देता और मृत्यु के स्पष्ट लक्षण दिखायी देते हैं, तब वह शरीर की पर्वाह न करके अपने धर्म की रक्षा करता है। ऐसी स्थिति में सल्लेखना को आत्मवध कैसे कहा जा सकता है?

इसके आगे व्रतदूषक कार्यों का विवेचन करने के लिए सबसे पहले सम्यक्त्व के पाँच अतिचार कहते हैं—

शङ्का—काङ्क्षा-विचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ॥२३॥

अर्थ—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि-प्रशंसा, अन्य दृष्टि-संस्तव, ये सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—अरहन्त भगवान् के द्वारा कहे गये तत्त्वों में यह शंका होना कि ये ठीक हैं या नहीं, शंका है। अथवा अपनी आत्मा को अखण्ड अविनाशी जानकर भी मृत्यु वगैरह से डरना सो शंका है। इस लोक या परलोक में भोगों की चाह को कांक्षा कहते हैं। दुःखी, दरिद्री, रोगी आदि को देख कर उससे घृणा करना, विचिकित्सा है। मिथ्या-दृष्टियों के ज्ञान, तप वगैरह की मन में सराहना करना अन्यदृष्टि प्रशंसा है और वचन से तारीफ करना संस्तव है। ये पाँच सम्यग्दर्शन के अतिचार यानि दोष हैं।

इसी तरह व्रत और शीलों के अतिचारों की विधि कहते हैं—

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥२४॥

अर्थ—अहिंसादिक अणुव्रतों में और दिग्विरति आदि शीलों में क्रम से पाँच-पाँच अतिचार कहते हैं।

शंका—व्रत और शील में क्या अन्तर है?

समाधान—जो व्रतों की रक्षा के लिए होते हैं, उन्हें शील कहते हैं।

प्रारम्भ में अहिंसा अणुव्रत के अतिचार कहते हैं—

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२५॥

अर्थ—बन्ध, वध, छेद, अतिभार-आरोपण और अन्नपान-निरोध ये पाँच अहिंसा अणुव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ—प्राणी को रस्सी सांकल वगैरह से बांधना या पिंजरे में बन्द कर देना, जिससे वह अपनी इच्छानुसार न जा सके सो बंध है। लाठी, डण्डे, कोड़े वगैरह से पीटना वध है। पूँछ, कान आदि अवयवों को काट डालना छेद है। मनुष्य या पशुओं पर उनकी शक्ति से अधिक भार लादना अथवा शक्ति से बाहर काम लेना अतिभारारोपण है। और उन्हें समय पर खाना पीना न देना अन्न-पान निरोध हैं। ये अहिंसा अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

अब सत्य अणुव्रत के अतिचार कहते हैं—

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रिया-न्यासापहारसाकारमन्त्र-भेदाः ॥२६॥

अर्थ—मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूट-लेख-क्रिया, न्यासापहार और साकार-मन्त्र-भेद- ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ—झूठ और अहितकर उपदेश देना मिथ्योपदेश है। स्त्री और पुरुष के द्वारा एकान्त में की गयी क्रिया को प्रकट कर देना रहोभ्याख्यान है। किसी का दबाव पड़ने से ऐसी झूठ बात लिख देना, जिससे दूसरा फँस जाये, सो कूटलेख क्रिया है। कोई आदमी अपने पास कुछ धरोहर रख जाये और भूल से कम मांगे तो उसको उसकी भूल न बतला कर जितनी वह माँगे उतनी ही दे देना न्यासापहार है। चर्चा वार्ता से अथवा मुख की आकृति वगैरह से दूसरे के मन की बात को जान कर लोगों पर इसलिए प्रकट कर देना कि उसकी बदनामी हो, सो साकार-मंत्र-भेद है। ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

आगे अचौर्याणुव्रत के अतिचार कहते हैं—

स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥२७॥

अर्थ—स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्ध-राज्यातिक्रम, हीनाधिक - मानोन्मान और प्रतिरूपक-व्यवहार ये पाँच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ—चोर को चोरी करने की स्वयं प्रेरणा करना, दूसरे से प्रेरणा करवाना, करता हो तो उसकी सराहना करना, स्तेन-प्रयोग है। जिस चोर को चोरी करने की न तो प्रेरणा ही की और न अनुमोदना ही की ऐसे किसी चोर से चोरी का माल खरीदना तदाहृतादान है। राजनियम के विरुद्ध चोरबाजारी वगैरह करना विरुद्ध-राज्यातिक्रम है। तोलने के बांटों को मान कहते हैं और तराजु को उन्मान कहते हैं। बांट तराजु दो तरह के रखना, कमती से दूसरों को देना और अधिक से स्वयं लेना हीनाधिक-मानोन्मान

है। जाली सिक्के ढालना अथवा खरी वस्तु में खोटी वस्तु मिलाकर बेचना प्रतिरूपक व्यवहार है। ये पाँच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार कहते हैं—

परविवाह-करणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्ग-क्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥२८॥

अर्थ—परविवाहकरण, अपरिगृहीत इत्वरिका गमन, परिगृहीत इत्वरिका गमन, अनङ्गक्रीड़ा और कामतीव्राभिनिवेश, ये पाँच ब्रह्मचर्याणु-व्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ—कन्या के वरण करने को विवाह कहते हैं। दूसरों का विवाह करना पर-विवाह-करण है। व्यभिचारिणी स्त्री को इत्वरिका कहते हैं। वह दो प्रकार की होती है—एक जिसका कोई स्वामी नहीं है और दूसरी जिसका कोई स्वामी है। इन दोनों प्रकार की व्यभिचारिणी स्त्रियों के यहाँ जाना, आना उनसे बातचीत, लेन देन, वगैरह करना अपरिगृहीत और परिगृहीत इत्वरिका गमन है। कामसेवन के अंगों को छोड़कर अन्य अङ्गों से रति करना अनङ्गक्रीड़ा है। कामसेवन की अत्यधिक लालसा को कामतीव्राभिनिवेश कहते हैं। ये पाँच अतिचार ब्रह्मचर्याणुव्रत के हैं।

परिग्रह-परिमाण व्रत के अतिचार कहते हैं—

क्षेत्रवास्तु-हिरण्यसुवर्ण-धनधान्य-दासीदास-कुप्य[१]-प्रमाणातिक्रमाः ॥२९॥

अर्थ—क्षेत्र (खेत), वास्तु (मकान), हिरण्य (चाँदी), सुवर्ण (सोना), धन (गाय, बैल), धान्य (अनाज), दासी दास (टहल चाकरी करने वाले स्त्री पुरुष) और कुप्य (सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्र वगैरह) इन सबके किये हुए परिमाण को लोभ में आकर बढ़ा लेना परिग्रह-परिमाण व्रत के अतिचार हैं।

१. कुप्य के बाद भाण्ड भी पाठ मिलता है, जिसका अर्थ है बर्तन।

सभी व्रतों के अतिचार छोड़ने पर ही व्रतों का निर्दोष पालन हो सकता है।

अन्य व्रतों में दिग्विरति के अतिचार कहते हैं—

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्-व्यतिक्रम-क्षेत्रवृद्धि-स्मृत्यन्तराधानानि ॥३०॥

अर्थ—ऊर्ध्वातिक्रम, अधोऽतिक्रम, तिर्यगतिक्रम, क्षेत्र-वृद्धि और स्मृत्यन्तराधान- ये पाँच दिग्विरति व्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ—दिशाओं की परिमित मर्यादा के लांघने को अतिक्रम कहते हैं। संक्षेप में उसके तीन भेद हैं—पर्वत या अमेरिका के ऐसे ऊँचे मकान वगैरह पर चढ़ने से ऊर्ध्वातिक्रम अतिचार होता है। कुँए वगैरह में उतरने से अधोऽतिक्रम होता है और पर्वत की गुफा वगैरह में चले जाने से तिर्यगतिक्रम होता है। दिशाओं का जो परिमाण किया है, लोभ में आकर उससे अधिक क्षेत्र में जाने की इच्छा करना, क्षेत्रवृद्धि नाम का अतिचार है। की हुई मर्यादा को भूल जाना स्मृत्यन्तराधान है।

इसके बाद देशव्रत के अतिचार कहते हैं—

आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूपानुपात-पुद्‌गलक्षेपाः ॥३१॥

अर्थ—आनयन (अपने संकल्पित देश में रहते हुए मर्यादा से बाहर के क्षेत्र की वस्तु को किसी के द्वारा मंगाना), प्रेष्यप्रयोग (मर्यादा के बाहर के क्षेत्र में किसी को भेजकर काम करा लेना), शब्दानुपात (मर्यादा के बाहर के क्षेत्र में काम करने वाले पुरुषों को लक्ष्य करके खांसना वगैरह, जिससे वे आवाज सुनकर जल्दी-जल्दी काम करें), रूपानुपात (मर्यादा के बाहर काम करने वाले पुरुषों को अपना रूप दिखाकर काम कराना), पुद्‌गलक्षेप (मर्यादा के बाहर पत्थर वगैरह फेंककर अपना काम करा लेना) ये पाँच देशविरति व्रत के अतिचार हैं।

आगे अनर्थदण्ड विरति व्रत के अतिचार कहते हैं—

कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोग-परिभोगानर्थक्यानि ॥३२॥

अर्थ—कन्दर्प (राग की अधिकता होने से हास्य के साथ अशिष्ट वचन बोलना), कौत्कुच्य (हास्य और अशिष्ट वचन के साथ शरीर से भी कुचेष्टा करना), मौखर्य (धृष्टतापूर्वक बहुत बकवाद करना), असमीक्ष्याधिकरण (बिना विचारे अधिक प्रवृत्ति करना), उपभोग-परिभोगानर्थक्य (जितने उपभोग और परिभोग से अपना काम चल सकता हो, उससे अधिक का संग्रह करना) ये पाँच अनर्थदण्डविरति व्रत के अतिचार हैं।

सामायिक के अतिचार कहते हैं—

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३३॥

अर्थ—कायदुष्प्रणिधान (सामायिक करते समय शरीर को निश्चल न रखना), वाग्दुष्प्रणिधान (सामायिक के मंत्र को अशुद्ध और जल्दी-जल्दी बोलना), मनोदुष्प्रणिधान (सामायिक में मन को न लगाना), अनादर (अनादर पूर्वक सामायिक करना), स्मृत्यनुपस्थापन (चित्त की चंचलता से पाठ वगैरह को भूल जाना) ये पाँच सामायिक के अतिचार हैं।

आगे प्रोषधोपवास व्रत के अतिचार कहते हैं—

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादान-संस्तरोपक्रमणानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि ॥३४॥

अर्थ—अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित उत्सर्ग (जन्तु हैं या नहीं, यह बिना देखे और भूमि को कोमल कूंची वगैरह से बिना साफ किये जमीन पर मल-मूत्र वगैरह करना), अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित आदान (बिना देखे और बिना शोधे पूजा की सामग्री और अपने पहनने के वस्त्र वगैरह बिछाना), अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण (बिना देखी और बिना साफ की हुई भूमि पर चटाई वगैरह बिछाना), अनादर (उपवास के कारण भूख-प्यास से पीड़ित होने से आवश्यक क्रियाओं में उत्साह न होना), स्मृत्यनुपस्थापन (आवश्यक क्रियाओं को भूल जाना), ये पाँच प्रोषधोपवास

व्रत के अतिचार हैं।

इसके बाद भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार कहते हैं—

सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुष्पक्वाहारः ॥३५॥

अर्थ—सचित्त आहार (सचेतन पुष्प पत्र फल वगैरह का खाना), सचित्त सम्बन्ध आहार (सचित्त से सम्बन्धित वस्तु को खाना), सचित्त-सम्मिश्र-आहार (सचित्त से मिली हुई वस्तु को खाना), अभिषव आहार (इन्द्रियों को मद करने वाली वस्तु को खाना), दुष्पक्वाहार (ठीक रीति से नहीं पके हुए भोजन को करना), ये पाँच भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार हैं। इस तरह का आहार करने से इन्द्रियाँ प्रबल हो सकती हैं, शरीर में रोग हो सकता है, जिससे उपभोग परिभोग के किये हुए परिमाण में व्यतिक्रम होने की सम्भावना है।

अतिथि-संविभाग व्रत के अतिचार कहते हैं—

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥३६॥

अर्थ—सचित्त निक्षेप (सचित्त कमल के पत्ते वगैरह पर रखकर आहार दान देना), सचित्त अपिधान (आहार को सचित्त पत्ते वगैरह से ढक देना), परव्यपदेश (स्वयं दान न देकर दूसरे से दिलवाना अथवा दूसरे का द्रव्य उठा कर स्वयं दे देना), मात्सर्य (आदरपूर्वक दान न देना अथवा अन्य दाताओं से ईर्ष्या करना), कालातिक्रम (मुनियों के अयोग्य काल में भोजन करना), ये पाँच अतिथि-संविभाग व्रत के अतिचार हैं।

अन्त में सल्लेखना के अतिचार कहते हैं—

जीवित-मरणाशंसा-मित्रानुराग-सुखानुबन्ध-निदानानि ॥३७॥

अर्थ—जीविताशंसा (सल्लेखना करके जीने की इच्छा करना), मरणाशंसा (रोग आदि के कष्ट से घबरा कर जल्दी मरने की इच्छा करना), मित्रानुराग (जिनके साथ खेले थे, उन मित्रों का स्मरण करना),

सुखानुबन्ध (भोगे हुए सुखों को याद करना), निदान (आगे के भोगों की चाह होना), ये पाँच सल्लेखना के अतिचार हैं।

अब दान का लक्षण कहते हैं—

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३८॥

अर्थ—अपने और दूसरों के उपकार के लिए धन वगैरह का देना, सो दान है। अर्थात् दान देने से दाता को पुण्य बन्ध होता है और जिसे दान दिया जाता है, उस पात्र के धर्मसाधन में उससे सहायता मिलती है। इन्हीं भावनाओं से दिया गया दान वास्तव में दान है।

दान के फल में विशेषता कैसे होती है। सो बतलाते हैं—

विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र विशेषात्तद्विशेषः ॥३९॥

अर्थ—विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता से दान में विशेषता होती है। आदर पूर्वक नवधाभक्ति से आहार देना विधि की विशेषता है। तप, स्वाध्याय आदि में जो सहायक हो ऐसा सात्विक आहार आदि देना द्रव्य की विशेषता है। किसी से ईर्ष्या न करना, देते हुए खेद न होना आदि दाता की विशेषता है और पात्र का विशिष्ट ज्ञानी, ध्यानी और तपस्वी होना, ये पात्र की विशेषता है। इन विशेषताओं से दान में विशेषता होती है। और दान में विशेषता होने से उसके फल में विशेषता होती है।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अथ अष्टमोऽध्यायः

आस्रव तत्त्व का व्याख्यान हो चुका। अब बन्ध का व्याख्यान करना है। अतः पहले बन्ध के कारणों को बतलाते हैं—

मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः ॥१॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग-ये पाँच बन्ध के कारण हैं।

विशेषार्थ—पहले कह आये हैं कि तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। उससे उल्टा यानि अतत्त्वों के श्रद्धान को या तत्त्वों के अश्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते हैं। उसके दो भेद हैं– मिथ्यात्वकर्म के उदय से दूसरे के उपदेशों के बिना ही जो मिथ्या श्रद्धान होता है, वह नैसर्गिक मिथ्यात्व है। इसकी अगृहीत मिथ्यात्व भी कहते हैं, यह मिथ्यात्व एकेन्द्रिय आदि जीवों के पाया जाता है। जो मिथ्यात्व दूसरों के उपदेश से होता है, वह परोपदेशपूर्वक या गृहीत मिथ्यात्व कहलाता है। इसके पाँच भेद हैं– एकान्त, विपरीत, संशय, वैनयिक और अज्ञान। अनेक धर्मरूप वस्तु को एक धर्मरूप ही मानना एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे वस्तु सत् ही है, या असत् ही है, या नित्य ही है अथवा अनित्य ही है ऐसा मानना एकान्त मिथ्यात्व है। हिंसा में धर्म मानना, परिग्रह के होते हुए भी अपने को निष्परिग्रही कहना विपरीत मिथ्यात्व है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं या नहीं इस दुविधा को संशय मिथ्यात्व कहते हैं। सब देवताओं को, सब धर्मों को और सब साधुओं को समान मानना वैनयिक मिथ्यात्व है। हित और अहित का विचार न कर सकना अज्ञान मिथ्यात्व है। छह काय के जीवों की हिंसा का त्याग न करना और पाँचों इन्द्रियों की तथा मन को विषयों में जाने से नहीं रोकना, सो बारह प्रकार की अविरति है। शुभ कार्यों में आलस्य करने को प्रमाद कहते हैं। उसके पन्द्रह भेद हैं– स्त्री कथा, भोजन कथा, देश कथा, और राज कथा ये चार कुकथाएँ, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषायें, पाँच इन्द्रियाँ, निद्रा

और स्नेह। सोलह कषाय और नव नोकषाय ये पच्चीस कषायें हैं। चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग ये पन्द्रह योग हैं। ये सब मिलकर भी तथा अलग अलग भी बन्ध के कारण हैं। सो पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में तो पाँचों ही बन्ध के कारण होते हैं। सासादन, मिश्र और अविरत सम्यग्दृष्टि नाम के दूसरे तीसरे और चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व को छोड़कर शेष चार बन्ध के कारण हैं। संयतासंयत नाम के पाँचवें गुणस्थान में अविरति और विरति तो मिली हुई हैं, क्योंकि उसमें त्रस हिंसा का त्याग तथा यथाशक्ति इन्द्रिय निरोध होता है, किंतु शेष तीन कारण पूरे हैं। प्रमत्त-संयत नाम के छठे गुणस्थान में प्रमाद, कषाय और योग तीन कारण रहते हैं। अप्रमत्त नाम के सातवें गुणस्थान से लेकर दसवें तक कषाय और योग दो ही कारण रहते हैं। उपशांत कषाय, क्षीण कषाय और सयोग केवली नाम के ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानों में केवल एक योग ही होता है। चौदहवें अयोग केवली गुणस्थान में बंध का एक भी कारण नहीं है।

अब बन्ध का स्वरूप कहते हैं—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥२॥

अर्थ—कषाय सहित होने से जीव जो कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, उसे बन्ध कहते हैं।

विशेषार्थ—समस्त लोक पुद्गलों से ठसाठस भरा हुआ है। वे पुद्गल अनेक प्रकार के हैं। उनमें अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु कर्मरूप होने के योग्य हैं। जब कषाय से संतप्त संसारी जीव योग के द्वारा हलन चलन करता है तो सब ओर से कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। जैसे आग से तपा हुआ लोहे का गोला जल में पड़ कर सब ओर से पानी को खींचता है, वैसे ही आत्मा योग और कषाय के द्वारा कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, इसी का नाम बन्ध है। इस सूत्र में 'कर्मयोग्यान्' न कहकर जो 'कर्मणो योग्यान्' कहा है, उससे इस सूत्र में एक विशेष बात बतलायी है।

वह यह है कि जीव कर्म की वजह से सकषाय होता है और कषाय सहित होने से कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। इससे यह बतलाया है कि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से है। पूर्वबद्ध कर्म का उदय आने पर जीव में कषाय पैदा होती है और कषाय पैदा होने से नवीन कर्मों का बन्ध होता है। इस तरह कर्म से कषाय और कषाय से कर्म की परम्परा अनादि काल से चली आती है। यदि ऐसा न मान कर बन्ध को सादि माना जाये, अर्थात् यह माना जाये कि पहले जीव अत्यन्त शुद्ध था, पीछे उसके कर्मबन्ध हुआ तो जैसे अत्यन्त शुद्ध मुक्त जीवों के कर्मबन्ध नहीं होता, वैसे ही जीव के भी कर्म बन्ध नहीं हो सकेगा। अतः यह मानना पड़ता है कि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। जैसे खाया हुआ भोजन उदराग्नि के अनुसार खल भाग और रस भाग रूप हो जाता है, वैसे ही तीव्र, मन्द या मध्यम जैसी कषाय होती है, उसी के अनुसार कर्मों में स्थिति और अनुभाग पड़ता है तथा जैसे आतशी काँच के बर्तन में पड़े अनेक प्रकार के रस, बीज, फूल और फल गर्मी खा कर शराब रूप हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा में स्थित पुद्गल परमाणु योग और कषाय की वजह से कर्म रूप हो जाते हैं। इसी को बन्ध कहते हैं।

इसके बाद बन्ध के भेद कहते हैं–

प्रकृति-स्थित्यनुभव-प्रदेशास्तद्विधयः ॥३॥

अर्थ– प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध- ये बंध के चार भेद हैं।

विशेषार्थ–प्रकृति स्वभाव को कहते हैं। जैसे नीम का स्वभाव कड़वापन है, गुड़ का स्वभाव मीठापन है। इसी तरह ज्ञानावरण कर्म का स्वभाव ज्ञान को ढाकना है, दर्शनावरण का स्वभाव वस्तु के सामान्य प्रतिभास को न होने देना है, वेदनीय का स्वभाव सुख-दुःख का वेदन है, दर्शन मोह का स्वभाव तत्त्वार्थ का श्रद्धान न होने देना है, चारित्र मोह का स्वभाव संयम को रोकना है, आयु का स्वभाव जीव को किसी एक भव में रोके रखना है, नाम कर्म का स्वभाव नारक, तिर्यञ्च आदि कहलाना है,

गोत्र का स्वभाव ऊँच नीच व्यवहार कराना है। अन्तराय का स्वभाव दान वगैरह में विघ्न डालना है। कर्मरूप पुद्गल परमाणुओं में इस प्रकार के स्वभाव का पड़ना प्रकृति-बन्ध है। तथा इस स्वभाव का न छूटना स्थिति है। जैसे बकरी, गाय, भैंस वगैरह का दूध जब तक अपने मिष्ट स्वभाव को नहीं छोड़ता, तब तक उसकी स्थिति कहलाती है। वैसे ही ज्ञानावरण आदि कर्म जितने समय तक अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते, कर्मरूप बने रहते हैं, उतनी उनकी स्थिति होती है। इस स्थिति के बंधने को स्थिति-बन्ध कहते हैं। तथा जैसे बकरी, गाय और भैंस के दूध में कम ज्यादा शक्ति होती है, वैसे ही कर्मों में जो तीव्र या मन्द फल देने की शक्ति पड़ती है, उसे अनुभव या अनुभाग बन्ध कहते हैं। जो पुद्गल स्कन्ध कर्मरूप होते हैं, परमाणु के द्वारा उनका प्रमाण निश्चय होना कि इतने कर्म परमाणुओं का बन्ध हुआ सो प्रदेश-बन्ध है। इस तरह बन्ध के चार भेद हैं। इनमें से प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध तो योग से होते हैं और स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध कषाय से होते हैं। योग और कषाय के तीव्र या मन्द होने से इन बन्धों में अन्तर पड़ सकता है।

आगे प्रकृति बन्ध के भेद कहते हैं—

आद्योज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीयायुर्नाम-गोत्रान्तरायाः ॥४॥

अर्थ—प्रकृति बन्ध के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय-ये आठ भेद हैं।

इन आठों कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ बतलाते हैं—

पञ्च-नव-द्व्यष्टाविंशति-चतुर्द्विचत्वारिंशद्-द्वि-पञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥५॥

अर्थ— ज्ञानावरण के पाँच भेद हैं। दर्शनावरण के नौ भेद हैं। वेदनीय के दो भेद हैं। मोहनीय के अट्ठाईस भेद हैं। आयु के चार भेद हैं। नाम के बयालीस भेद हैं। गोत्र के दो भेद हैं और अन्तराय के पाँच भेद हैं।

प्रथम ज्ञानावरण के पाँच भेद गिनाते हैं—

मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानाम् ॥६॥

अर्थ—मति ज्ञानावरण, श्रुत ज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण, मनःपर्यय ज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण- ये ज्ञानावरण के पाँच भेद हैं।

शंका— अभव्य जीव के मनःपर्यय ज्ञान शक्ति और केवल ज्ञान शक्ति हैं या नहीं? यदि हैं तो वह अभव्य नहीं और यदि नहीं है तो उसके मनःपर्यय ज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण मानना व्यर्थ है?

समाधान—द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अभव्य के भी दोनों ज्ञान शक्तियाँ हैं। किन्तु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से नहीं हैं।

शंका—यदि अभव्य के भी दोनों ज्ञान शक्तियाँ हैं तो भव्य और अभव्य का भेद नहीं बनता, क्योंकि दोनों के ही मनःपर्ययज्ञान शक्ति और केवलज्ञान शक्ति हैं?

समाधान— शक्ति के होने और न होने की अपेक्षा भव्य और अभव्य भेद नहीं हैं, किन्तु शक्ति के प्रकट होने की अपेक्षा से हैं। जिसके सम्यग्दर्शन आदि गुण प्रकट होंगे, वह भव्य है और जिसके कभी प्रकट नहीं होंगे, वह अभव्य हैं।

दर्शनावरण के नौ भेद कहते हैं—

चक्षुरचक्षुरवधि-केवलानां निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धयश्च ॥७॥

अर्थ—चक्षु दर्शनावरण, अचक्षु दर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण, केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि- ये दर्शनावरण कर्म के नौ भेद हैं।

विशेषार्थ—जो चक्षु के द्वारा वस्तु का सामान्य ग्रहण न होने दे, वह चक्षु दर्शनावरण है। जो चक्षु के सिवा अन्य इन्द्रियों के द्वारा वस्तु का सामान्य ग्रहण न होने दे, वह अचक्षु दर्शनावरण है। जो अवधि दर्शन को

रोके वह अवधि दर्शनावरण और जो केवलदर्शन को न होने दे, वह केवल दर्शनावरण है। मद, खेद और थकान दूर करने के लिए सोना, निद्रा है। गहरी नींद को, जिसमें जीव का आँखें खोलना अशक्य होता है, निद्रानिद्रा कहते हैं। रंज, मेहनत और थकान के कारण बैठे-बैठे ही ऊँघने लगना प्रचला है और प्रचला की अधिकता को प्रचलाप्रचला कहते हैं। जिसके उदय से जीव सोते सोते ही उठ कर कोई बड़ा भारी काम कर डाले, उसे स्त्यानगृद्धि कहते हैं।

अब तृतीय कर्मवेदनीय के भेद कहते हैं—

सदसद्वेद्ये ॥८॥

अर्थ—वेदनीय के दो भेद है साता और असाता। जिसके उदय से जीव देव आदि गतियों में शारीरिक और मानसिक सुख का अनुभव करता है, उसे साता वेदनीय कहते हैं और जिसके उदय से अनेक प्रकार के दुःख का अनुभव करता है, उसे असाता वेदनीय कहते हैं।

अब मोहनीय के भेद कहते हैं—

दर्शन-चारित्रमोहनीयाकषाय-कषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्वि-नव-षोडशभेदाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयान्यकषाय-कषायौ हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुन्नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान-संज्वलन-विकल्पाश्चैकशः क्रोध-मान-माया-लोभाः ॥९॥

अर्थ—मोहनीय कर्म के दो भेद हैं-दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं— सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक् -मिथ्यात्व। चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं— अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय। अकषाय वेदनीय के नौ भेद हैं— हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद। कषाय वेदनीय के सोलह भेद हैं— अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-

मान–माया–लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध–मान–माया–लोभ और संज्वलन क्रोध–मान–माया–लोभ। इस तरह मोहनीय के अट्ठाईस भेद हैं।

विशेषार्थ—दर्शन मोहनीय कर्म के तीन भेदों में से बंध तो केवल एक मिथ्यात्व का ही होता है। किंतु जब जीव को प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है, तो उस मिथ्यात्व के तीन भाग हो जाते हैं। अतः सत्ता और उदय की अपेक्षा दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं। जिसके उदय से जीव सर्वज्ञ के द्वारा कहे गये मार्ग से विमुख, तत्त्वार्थ के श्रद्धान के प्रति उदासीन और हित अहित के विचार से शून्य मिथ्यादृष्टि होता है, उसे मिथ्यात्व कहते हैं। जब शुभ परिणाम के द्वारा उस मिथ्यात्व की शक्ति घटा दी जाती है और वह आत्मा के श्रद्धान को रोकने में असमर्थ हो जाता है, तो उसे सम्यक्त्व मोहनीय कहते हैं और जब उसी मिथ्यात्व की शक्ति आधी शुद्ध हो पाती है, तब उसे सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय कहते हैं। उसके उदय से जीव के श्रद्धान और अश्रद्धान रूप मिले हुए भाव होते हैं, चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं– अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय। अकषाय का अर्थ ईषत् कषाय यानि किञ्चित् कषाय है, इसी से अकषाय को नोकषाय भी कहते हैं, क्रोध आदि कषाय का बल पाकर ही हास्य आदि होते हैं, उसके अभाव में नहीं होते। इसलिए इन्हें अकषाय कहा जाता है। जिसके उदय से हँसी आती है, उसे हास्य कहते हैं। जिसके उदय से किन्हीं विषयों में आसक्ति होती है, उसे रति कहते हैं। जिसके उदय से, किन्हीं विषयों में द्वेष होता है, उसे अरति कहते हैं। जिसके उदय में रंज होता है, उसे शोक कहते हैं। जिसके उदय से डर लगता है, उसे भय कहते हैं। जिसके उदय से जीव अपने दोषों को ढांकता है और दूसरों को दोष लगाता है, उसे जुगुप्सा कहते हैं। जिसके उदय से स्त्रीत्व सूचक भाव होते हैं, उसे स्त्रीवेद कहते हैं। जिसके उदय से पुरुषत्व सूचक भाव होते हैं, उसे पुरुष–वेद कहते हैं। जिसके उदय से स्त्रीत्व और पुरुषत्व दोनों से रहित एक तीसरे प्रकार के भाव होते हैं, उसे नपुंसक–वेद कहते हैं। ये नौ भेद अकषाय वेदनीय के हैं।

कषाय वेदनीय के सोलह भेद इस प्रकार हैं– मूल कषाय चार हैं

क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमें से प्रत्येक की चार-चार अवस्थायें होती हैं। मिथ्यात्व के रहते हुए संसार का अन्त नहीं होता, इसलिए मिथ्यात्व को अनन्त कहते हैं और जो क्रोध, मान, माया या लोभ अनंत यानि मिथ्यात्व से बंधे हुए हैं, उन्हें अनंतानुबंधी कहते हैं। जिस क्रोध, मान, माया या लोभ के उदय से थोड़ा-सा भी देशचारित्र रूप भाव प्रकट नहीं हो सकता, उन्हें अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। जिस क्रोध, मान, माया या लोभ के उदय से जीव के सकलचारित्र रूप भाव नहीं होते, उन्हें प्रत्याख्यानावरण कहते हैं और जिस क्रोध, मान, माया या लोभ के उदय से शुद्धोपयोग रूप यथाख्यात चारित्र नहीं प्रकट होता, उसे संज्वलन कहते हैं। ये कषाय वेदनीय के सोलह भेद हैं। इस तरह मोहनीय के कुल अट्ठाईस भेद हैं।

अब आयुकर्म के भेद कहते हैं—

नारक-तैर्यग्योन-मानुष-दैवानि ॥१०॥

अर्थ— नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये चार आयुकर्म के भेद हैं। जिसके उदय से नरक में दीर्घकाल तक रहना पड़े वह नरकायु है। जिसके उदय से तिर्यञ्च योनि में रहना पड़े वह तिर्यगायु है। जिसके उदय से मनुष्य पर्याय में जन्म लेना पड़े, वह मनुष्यायु है और जिसके उदय से देवों में जन्म हो, वह देवायु है।

अब नामकर्म की प्रकृतियाँ कहते हैं—

गति-जाति-शरीराङ्गोपाङ्ग-निर्माण-बन्धन-सङ्घात-संस्थान-संहनन-स्पर्शरसगन्ध-वर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपो-द्योतोच्छ्वास-विहायोगतयः प्रत्येकशरीर-त्रस-सुभग-सुस्वर-शुभ-सूक्ष्म-पर्याप्ति-स्थिरादेय-यशः कीर्ति-सेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥११॥

अर्थ—गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति तथा प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग,

सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यशःकीर्ति और इन दसों के प्रतिपक्षी अर्थात् साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुस्वर, अशुभ, बादर, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय और अयशःकीर्ति एवं तीर्थङ्कर ये बयालीस भेद नामकर्म के हैं। इन्हीं के अवान्तर भेदों को मिलाने से नामकर्म के तिरानवें भेद हो जाते हैं।

विशेषार्थ—जिसके उदय से जीव दूसरे भव में जाता है, उसे गति नामकर्म कहते हैं। उसके चार भेद हैं– नरक गति, तिर्यग्गति, मनुष्य गति और देव गति। जिसके उदय से जीव के नारक भाव हों वह नरक गति है। ऐसा ही अन्य गतियों का भी स्वरूप जानना।

उन नरकादि गतियों में अव्यभिचारी समानता के आधार पर जीवों का एकीकरण, जिसके उदय से हो वह जाति नामकर्म है। उसके पाँच भेद हैं एकेन्द्रिय जाति नाम, दो इन्द्रिय जाति नाम, तेइन्द्रिय जाति नाम, चौइन्द्रिय जाति नाम और पंचेन्द्रिय जाति नाम। जिसके उदय से जीव एकेन्द्रिय कहा जाता है, वह एकेन्द्रिय जाति नाम है। इसी तरह शेष में भी लगा लेना।

जिसके उदय से जीव के शरीर की रचना होती है, वह शरीर नाम है। उसके पाँच भेद हैं– औदारिक शरीर नाम, वैक्रियिक शरीर नाम, आहारक शरीर नाम, तैजस शरीर नाम और कार्मण शरीर नाम। जिसके उदय से औदारिक शरीर की रचना हो, वह औदारिक शरीर नाम कर्म है। इस तरह शेष को भी समझ लेना। जिसके उदय से अंग उपाँग का भेद प्रकट हो, वह अंगोपांग नामकर्म है। उसके तीन भेद हैं– औदारिक शरीर अंगोपांग नाम, वैक्रियिक शरीर अंगोपांग नाम, आहारक शरीर अंगोपांग नाम।

जिसके उदय से अंग उपांग की रचना हो, वह निर्माण नामकर्म है। इसके दो भेद हैं– स्थान निर्माण और प्रमाण निर्माण। निर्माण नामकर्म जाति के उदय के अनुसार चक्षु आदि की रचना अपने-अपने स्थान में तथा अपने अपने प्रमाण में करता है।

शरीर नामकर्म के उदय से ग्रहण किये हुए पुद्‌गलों का परस्पर में

मिलन, जिस कर्म के उदय से होता है, वह बन्धन नामकर्म है।

जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों के प्रदेशों का परस्पर में छिद्र रहित एकमेकपना होता है, वह संघात नाम कर्म है।

जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों की आकृति बनती है, वह संस्थान नामकर्म है। उसके छह भेद हैं–समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान, स्वाति संस्थान, कुब्जक संस्थान, वामन संस्थान, हुंडक संस्थान। जिसके उदय से ऊपर, नीचे तथा मध्य में शरीर के अवयवों की समान विभाग लिए, रचना होती है, उसे समचतुरस्र संस्थान नाम कहते हैं। जिसके उदय से नाभि के ऊपर का भाग भारी और नीचे का पतला होता है, जैसे वट का वृक्ष, उसे न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान नाम कहते हैं। स्वाति यानि बाम्बी की तरह नाभि से नीचे का भाग भारी और ऊपर का दुबला जिस कर्म के उदय से हो, वह स्वाति संस्थान नाम है। जिसके उदय से कुबड़ा शरीर हो, वह कुब्जक संस्थान नाम है। जिसके उदय से बौना शरीर हो, वह वामन संस्थान नाम है। जिसके उदय से विरूप अंगोपांग हों, वह हुंडक संस्थान नाम है।

जिसके उदय से हड्डियों के बन्धन में विशेषता हो, वह संहनन नामकर्म है। उसके भी छह भेद हैं– वज्रवृषभनाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन, नाराच संहनन, अर्धनाराच संहनन, कीलित संहनन और असंप्राप्तासृपाटिका संहनन नाम। जिसके उदय से वृषभ यानि वेष्टन, नाराच यानि कीलें और संहनन यानि हड्डियाँ वज्र की तरह अभेद्य हों, वह वज्रवृषभ नाराच संहनन नाम है। जिसके उदय से कील और हड्डियाँ वज्र की तरह हों और वेष्टन सामान्य हो, वह वज्रनाराच संहनन नाम है। जिसके उदय से हाड़ों के जोड़ों में कीलें हों वह नाराच संहनन नाम है। जिसके उदय से हाड़ों की संधियाँ अर्ध कीलित हों, वह अर्धनाराच संहनन नाम है। जिसके उदय से हाड़ परस्पर में ही कीलित हों, अलग से कील न हो, वह कीलित संहनन नाम है। जिसके उदय से हाड़ केवल नस, स्नायु वगैरह से बन्धे हों, वह असंप्राप्तासृपाटिका संहनन है।

जिसके उदय से शरीर में स्पर्श प्रकट हो, वह स्पर्श नामकर्म है। उसके आठ भेद हैं–कर्कश नाम, मृदु नाम, गुरु नाम, लघु नाम, स्निग्ध नाम, रूक्ष नाम, शीत नाम, उष्ण नाम।

जिसके उदय से शरीर में रस प्रकट हो, वह रस नामकर्म है। उसके पाँच भेद हैं–तिक्त नाम, कटुक नाम, कषाय नाम, आम्ल नाम, मधुर नाम।

जिसके उदय से शरीर में गन्ध प्रकट हो, वह गन्ध नाम है। उसके दो भेद हैं– सुगन्ध नाम और दुर्गन्ध नामकर्म।

जिसके उदय से शरीर में वर्ण यानि रंग प्रकट हो, वह वर्ण नाम है। उसके पाँच भेद हैं–कृष्ण वर्णनाम, शुक्ल वर्णनाम, नील वर्णनाम, रक्त वर्णनाम और हरित वर्णनाम।

जिसके उदय से पूर्व शरीर का आकार बना रहे, वह आनुपूर्व्य नाम कर्म है। उसके चार भेद हैं–नरक गति प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम, तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम, मनुष्य गति प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम और देवगति प्रायोग्यानु-पूर्व्यनाम। जिस समय मनुष्य या तिर्यञ्च मर करके नरक गति की ओर जाता है, तो मार्ग में उसकी आत्मा के प्रदेशों का आकार वैसा ही बना रहता है, जैसा उसके पूर्व शरीर का आकार था, जिसे वह छोड़कर आया है। यह नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म का कार्य है। इसी तरह अन्य आनुपूर्वियों का कार्य जानना। आनुपूर्वी कर्म का उदय विग्रह गति में ही होता है।

जिसके उदय से शरीर न तो लोहे के गोले की तरह भारी हो और न आक की रुई की तरह हल्का हो, वह अगुरुलघु नामकर्म है।

जिसके उदय से जीव स्वयं ही अपना घात करके मर जाये, वह उपघात नामकर्म है।

जिसके उदय से दूसरे के द्वारा चलाये गये शस्त्र आदि से अपना घात हो, वह परघात नामकर्म है।

जिसके उदय से आतपकारी शरीर हो, वह आतप नामकर्म है।

इसका उदय सूर्य के बिम्ब में जो बादर पर्याप्त पृथ्वी कायिक जीव होते हैं, उन्हीं के होता है।

जिसके उदय से उद्योत रूप शरीर हो, वह उद्योत नामकर्म है। इसका उदय चन्द्रमा के बिम्ब में रहने वाले जीवों के तथा जुगनु वगैरह के होता है।

जिसके उदय से उच्छ्वास हो, वह उच्छ्वास नामकर्म है।

विहाय यानी आकाश। आकाश मे गमन जिस कर्म के उदय से होता है वह विहायोगति नामकर्म है। इसके दो भेद हैं–प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति। एक जीव के ही भोगने योग्य होता है, वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है।

जिसके उदय से बहुत से जीवों के भोगने योग्य साधारण शरीर होता है, वह साधारण शरीर नामकर्म है। अर्थात् साधारण शरीर नामकर्म के उदय से एक शरीर में अनन्त जीव एक अवगाहना रूप होकर रहते हैं। वे सब एक साथ ही जन्म लेते हैं, एक साथ ही मरते हैं और एक साथ ही श्वास वगैरह लेते हैं। उन्हें साधारण वनस्पति कहते हैं।

जिसके उदय से द्वीन्द्रिय आदि में जन्म हो, उसे त्रसनामकर्म कहते हैं। जिसके उदय से एकेन्द्रियों में जन्म हो, वह स्थावर नामकर्म है। जिसके उदय से दूसरे जीव अपने से प्रीति करें वह सुभग नामकर्म है। जिसके उदय से सुन्दर सुरूप होने पर भी दूसरे अपने से प्रीति न करें अथवा घृणा करें, वह दुर्भग नामकर्म है।

जिसके उदय से स्वर मनोज्ञ हो, जो दूसरों को प्रिय लगे, वह सुस्वर नामकर्म है।

जिसके उदय से अप्रिय स्वर हो, वह दुस्वर नामकर्म है। जिसके उदय से शरीर के अवयव सुन्दर हों, वह शुभ नामकर्म है।

जिसके उदय से शरीर के अवयव सुन्दर न हों, वह अशुभ नामकर्म है।

जिसके उदय से सूक्ष्म शरीर हो जो किसी से न रुके, वह सूक्ष्म नामकर्म है।

जिसके उदय से स्थूल शरीर हो, वह बादर नामकर्म है।

जिसके उदय से आहार आदि पर्याप्ति की पूर्णता हो, वह पर्याप्ति नामकर्म है। उसके छह भेद हैं– आहार पर्याप्ति नाम, शरीर पर्याप्ति नाम, इन्द्रिय पर्याप्ति नाम, प्राणापान पर्याप्ति नाम, भाषा पर्याप्ति नाम और मनः पर्याप्ति नाम।

जिसके उदय से पर्याप्तियों की पूर्णता नहीं होती, वह अपर्याप्ति नामकर्म है। जिसके उदय से शरीर के धातु उपधातु स्थिर होते हैं जिससे कठिन श्रम करने पर भी शरीर शिथिल नहीं होता, वह स्थिर नामकर्म है।

जिसके उदय से धातु उपधातु स्थिर नहीं होते, जिससे थोड़ा-सा श्रम करने से ही या जरा सी गर्मी-सर्दी लगने से ही शरीर म्लान हो जाता है, वह अस्थिर नामकर्म है।

जिसके उदय से शरीर प्रभासहित हो वह आदेय नामकर्म है और जिसके उदय से शरीर प्रभा रहित हो, वह अनादेय नामकर्म है।

जिसके उदय से संसार में जीव का यश फैले, वह यशःकीर्ति नामकर्म है और जिसके उदय से संसार में अपयश फैले, वह अयशस्कीर्ति नामकर्म है।

जिसके उदय से अपूर्व प्रभावशाली अर्हन्त पद के साथ धर्मतीर्थ का प्रवर्तन होता है, वह तीर्थंकर नामकर्म है। इस तरह नामकर्म की बयालीस प्रकृतियों के ही तिरानवे भेद हो जाते हैं।

अब गोत्र कर्म की प्रकृतियाँ कहते हैं–

उच्चैर्नीचैश्च ॥१२॥

अर्थ– गोत्र कर्म के दो भेद हैं–उच्च गोत्र और नीच गोत्र। जिसके उदय से लोक में अपने सदाचार के कारण पूज्य कुल में जन्म होता है, उसे उच्च गोत्र कहते हैं और जिसके उदय से निन्दनीय आचरण वाले कुल में जन्म हो, वह नीच गोत्र है।

अब अन्तराय कर्म के भेद कहते हैं–

दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणाम् ॥१३॥

अर्थ—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये पाँच भेद अन्तराय कर्म के हैं। जिसके उदय से देने की इच्छा होते हुए भी नहीं देता है, वह दानान्तराय है। लाभ की इच्छा होते हुए भी तथा प्रयत्न करने पर भी जिसके उदय से लाभ नहीं होता है, वह लाभान्तराय है। भोग और उपभोग की चाह होते हुए भी जिसके उदय से भोग, उपभोग नहीं कर सकता, वह भोगान्तराय और उपभोगान्तराय है। उत्साह करने पर भी जिसके उदय से उत्साह नहीं हो पाता, वह वीर्यान्तराय है ॥१३॥

प्रकृतिबन्ध के भेद बतला कर अब स्थितिबन्ध के भेद बतलाते हैं। स्थिति दो प्रकार की है-उत्कृष्ट और जघन्य; पहले कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं—

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम-
कोटीकोट्यः
परा स्थितिः ॥१४॥

अर्थ—आदि के तीन अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटा-कोटी सागर प्रमाण है। यह उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव के होता है।

अब मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं—

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥१५॥

अर्थ— मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण है। यह उत्कृष्ट स्थिति भी सैनी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टिजीव के ही होती है।

अब नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं—

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥१६॥

अर्थ—नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। यह उत्कृष्ट स्थिति भी सैनी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि

जीव के ही होती है।

अब आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं–

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥१७॥

अर्थ- आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर प्रमाण है। यह स्थिति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक के ही होती है।

अब जघन्य स्थिति-बन्ध को बतलाते हुए वेदनीय की जघन्य स्थिति बतलाते हैं–

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥

अर्थ— वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है। यह स्थिति सूक्ष्मसाम्पराय नाम के दसवें गुणस्थान में ही बंधती है।

अब नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति कहते हैं–

नामगोत्रयोरष्टौ ॥१९॥

अर्थ—नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है। यह भी सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में ही बंधती है।

अब शेष पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति कहते हैं–

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥२०॥

अर्थ— ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। इनमें से मोहनीय की जघन्य स्थिति नौवे गुणस्थान में ही बंधती है। आयु की जघन्य स्थिति संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमियाँ मनुष्य और तिर्यञ्चों के बंधती है। और शेष तीन कर्मों की जघन्य स्थिति सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में बंधती हैं।

इस तरह स्थितिबन्ध को कहकर अब अनुभवबन्ध को कहते हैं–

विपाकोऽनुभवः ॥२१॥

अर्थ—विशिष्ट अथवा नाना प्रकार के पाक यानि उदय को विपाक कहते हैं और विपाक को ही अनुभव कहते हैं।

विशेषार्थ—छठे अध्याय में बतलाया है कि कषाय की तीव्रता या

मन्दता के होने से कर्म के आस्रव में विशेषता होती है। और उसकी विशेषता से कर्म के उदय में अन्तर पड़ता है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के निमित्त से भी कर्म के फल देने में विविधता होती है। अतः कर्म जो अनेक प्रकार का फल देता है, उस फल देने का नाम ही अनुभव या अनुभाग है। शुभ परिणामों की अधिकता होने से शुभ प्रकृतियों में अधिक रस पड़ता है और अशुभ प्रकृतियों में मन्द रस पड़ता है। तथा अशुभ परिणामों की अधिकता होने से अशुभ प्रकृतियों में अधिक रस पड़ता है और शुभ प्रकृतियों में मन्द रस पड़ता है। इस तरह परिणामों की विचित्रता से अनुभाग बन्ध में भी अन्तर पड़ता है।

कर्मों का यह अनुभाग दो रूप से होता है–एक स्वमुख से और दूसरे परमुख से। आठों मूल कर्मों का अनुभाग स्वमुख से ही होता है। अर्थात् प्रत्येक कर्म अपने रूप में ही अपना फल देता है, एक उत्तरकर्म दूसरे उत्तरकर्म रूप होकर एक जाति की हैं, वे आपस में अदल-बदल कर भी फल देती हैं। जैसे असातावेदनीय सातावेदनीय रूप से भी फल दे सकता है। मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण रूप से उदय में आ सकता है। इसको परमुख से फल देना कहते हैं। परन्तु कुछ उत्तर प्रकृतियाँ भी ऐसी हैं जो स्वमुख से ही अपना फल देती है। जैसे, दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीय रूप से फल नहीं देता और न चारित्रमोहनीय दर्शनमोहनीय रूप से फल देता है। इसी तरह चारों आयु भी अपने रूप ही फल देती हैं, परस्पर में अदल-बदल कर फल नहीं देती। अर्थात् किसी ने नरकायु का बन्ध किया हो और उसका फल मनुष्यायु या तिर्यञ्चायु के रूप में मिले, यह सम्भव नहीं है। उसे नरक में ही जाना होगा।

आगे इसी बात को कहते हैं–

स यथानाम ॥२२॥

अर्थ–कर्म का जैसा नाम है, वैसा ही उसका फल है। जैसे ज्ञानावरण का फल ज्ञानशक्ति को ढांकना है, दर्शनावरण का फल दर्शनशक्ति को ढांकना है। इसी तरह सभी कर्मों और उनके भेदों का नाम सार्थक है

और नाम के अनुसार ही उनका फल भी होता है।

अब यह बतलाते हैं— कि जो कर्म उदय में आकर अपना तीव्र या मन्द फल देता है, फल देने के बाद भी वह कर्म आत्मा से चिपटा रहता है या छूट जाता है—

ततश्च निर्जरा ॥२३॥

अर्थ—फल दे चुकने पर कर्म की निर्जरा हो जाती है; क्योंकि स्थिति पूरी हो चुकने पर कर्म आत्मा के साथ एक क्षण भी चिपटा नहीं रह सकता। आत्मा से छूट कर वह किसी और रूप से परिणमन कर जाता है, इसी का नाम निर्जरा है।

विशेषार्थ—निर्जरा दो प्रकार की होती है–सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा। क्रम से उदय काल आने पर कर्म का अपना फल देकर झड़ जाना सविपाक निर्जरा है और जिस कर्म का उदय काल तो नहीं आया, किन्तु तपस्या वगैरह के द्वारा जबरदस्ती से उसे उदय में लाकर जो खिराया जाता है, वह अविपाक निर्जरा है। जैसे, आम पेड़ पर लगा-लगा जब स्वयं ही पक कर टपक जाता है, तो वह सविपाक है। और उसे पेड़ से तोड़ कर पाल में दबाकर जो जल्दी पका लिया जाता है, वह अविपाक है।

अब प्रदेश बन्ध को कहते हैं—

नामप्रत्यया: सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिता: सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशा: ॥२४॥

अर्थ—इस सूत्र में प्रदेश बन्ध का स्वरूप बतलाते हुए बंधने वाले कर्मप्रदेशों के बारे में इतनी बातें बतलाई हैं— वे कर्मप्रदेश किसके कारण हैं ? कब बंधते हैं ? कैसे बंधते हैं ? उनका स्वभाव कैसा है ? बंधने पर वे रहते कहाँ हैं ? और उनका परिमाण कितना होता है ?

प्रत्येक प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है–वे कर्मप्रदेश ज्ञानावरण आदि सभी कर्म प्रकृतियों के कारण हैं। अर्थात् जैसे ही वे बंधते हैं। वैसे ही आयु को छोड़कर शेष सात कर्म रूप हो जाते हैं, यदि उस समय आयु कर्म का भी बन्ध होता है तो आठों कर्म रूप हो जाते हैं। दूसरा प्रश्न है कि कब

बंधते हैं ? उसका उत्तर है कि सब भवों में बंधते हैं। ऐसा कोई भव नहीं, और एक भव में ऐसा कोई क्षण नहीं जब कर्मबन्ध न होता हो। तीसरा प्रश्न है कि कैसे बंधते हैं ? उसका उत्तर है-योगविशेष के निमित्त से बंधते हैं। योग का वर्णन छठे अध्याय में हो चुका है, वही कर्मों के बन्ध में निमित्त है। चौथा प्रश्न है कि उनका स्वभाव कैसा है ? उसका उत्तर है कि वे सूक्ष्म होते हैं- स्थूल नहीं होते तथा जिस आकाश प्रदेश में आत्मप्रदेश रहते हैं, उसी आकाश प्रदेश में कर्म योग्य पुद्‌गल भी ठहर जाते हैं। पाँचवां प्रश्न है कि वे किस आधार से रहते हैं ? इसका उत्तर है कि कर्मप्रदेश आत्मा के किसी एक ही भाग में आकर नहीं रहते। किन्तु आत्मा के समस्त प्रदेशों में ऐसे घुल मिल जाते हैं, जैसे दूध में पानी। छठवां प्रश्न है कि उनका परिमाण कितना होता है ? तो उत्तर है कि अनन्तानन्त परमाणु प्रतिसमय बंधते रहते हैं। सारांश यह है कि एक आत्मा के असंख्यात प्रदेश होते हैं। प्रत्येक प्रदेश में प्रतिसमय अनन्तानन्त प्रदेशी पुद्‌गल-स्कन्ध बन्ध रूप होते रहते हैं। यही प्रदेश-बन्ध है।

अब कर्मों की पुण्य प्रकृतियों को बतलाते हैं—

सद्वेद्य-शुभायुर्नाम-गोत्राणि पुण्यम् ॥२५॥

अर्थ—सातावेदनीय, तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवायु ये तीन आयु, एक उच्च गोत्र और नामकर्म सैंतीस प्रकृतियाँ ये ब्यालीस पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

नामकर्म की सैंतीस प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं- मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, पाँच शरीर, तीन अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभ-नाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, देव गत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्‌वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर। ये सब पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

अब पाप प्रकृतियों को कहते हैं—

अतोऽन्यत्पापम् ॥२६॥

अर्थ– इन पुण्य कर्म प्रकृतियों के सिवा शेष कर्म प्रकृतियाँ पाप प्रकृतियाँ हैं। सो ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ, मोहनीय की छब्बीस, अन्तराय की पाँच, ये घातिया कर्मों की प्रकृतियाँ पाप-प्रकृतियाँ हैं। नरक गति, तिर्यञ्च गति, एकेन्द्रिय आदि चार जातियाँ, पाँच संस्थान, पाँच संहनन, अप्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, नरक गत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति ये नामकर्म की चौंतीस प्रकृतियाँ, असाता वेदनीय, नरकायु और नीच गोत्र। इस तरह बयासी प्रकृतियाँ पाप-प्रकृतियाँ हैं।

विशेषार्थ–घातिया कर्म तो चारों अशुभ ही हैं और अघातिया कर्मों की प्रकृतियाँ पुण्य रूप भी हैं और पाप रूप भी हैं। उनमें भी स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण पुण्य रूप भी हैं और पाप रूप भी हैं। इसलिए उनकी गणना पुण्य प्रकृतियों में भी की जाती है और पाप प्रकृतियों में भी की जाती है। इससे ऊपर गिनाई गयी पुण्य और पाप प्रकृतियों का जोड़ ८२+४२ =१२४ होता है। किन्तु बन्ध प्रकृतियाँ १२० ही हैं। जबकि आठों कर्मों की कुल प्रकृतियाँ ५+९+२+२८+४+९३+२+५=१४८ हैं।

इनमें पाँच बन्धन और पाँच संघात तो शरीर के साथी हैं– अर्थात् यदि औदारिक शरीर का बन्ध होगा तो औदारिक बन्धन और औदारिक संघात का अवश्य बन्ध होगा। इसलिए बन्ध प्रकृतियों में पाँच शरीरों का ही ग्रहण किया है। अतः पाँच बन्धन और पाँच संघात ये १० प्रकृतियाँ कम हुईं और वर्ण गन्ध आदि के बीस भेदों में से केवल वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इन चार को ही ग्रहण किया है, इससे १६ प्रकृतियाँ ये कम हुई। तथा दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों में से केवल एक मिथ्यात्व का ही बन्ध होता है। अतः दो ये कम हुई। इस तरह अट्ठाईस प्रकृतियों के कम होने से बन्धयोग्य प्रकृतियाँ १२० ही रहती हैं। इस तरह बन्ध का वर्णन समाप्त हुआ।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

अथ नवमोऽध्यायः

अब बन्ध तत्त्व का वर्णन करने के बाद बन्ध के विनाश के लिए संवरतत्त्व का वर्णन करते हैं। प्रथम ही संवर का लक्षण कहते हैं–

आस्रवनिरोधः संवरः ॥१॥

अर्थ– नये कर्मों के आने में जो कारण है, उसे आस्रव कहते हैं। और आस्रव के रोकने को संवर कहते हैं। संवर के दो भेद हैं–भाव संवर और द्रव्य संवर। जो क्रियाएँ संसार में भटकने में हेतु हैं, उन क्रियाओं का अभाव होना; भाव संवर है और उन क्रियाओं का अभाव होने पर क्रियाओं के निमित्त से जो कर्म पुद्‌गलों का आगमन होता था, उनका रुकना द्रव्य संवर है।

अब संवर के कारण बतलाते हैं–

स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजयचारित्रैः ॥२॥

अर्थ– वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है। संसार के कारणों से आत्मा की रक्षा करना गुप्ति है। प्राणियों को कष्ट न पहुँचे इस भावना से यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करना समिति है। जो जीव को उसके इष्ट स्थान में धरता है, वह धर्म है। संसार, शरीर वगैरह का स्वरूप बार-बार विचारना अनुप्रेक्षा है। भूख प्यास वगैरह का कष्ट होने पर उस कष्ट को शान्ति पूर्वक सहन करना परीषहजय है। संसारभ्रमण से बचने के लिए, जिन क्रियाओं से कर्मबन्ध होता है, उन क्रियाओं को छोड़ देना चारित्र है।

विशेषार्थ– संवर का प्रकरण होते हुए भी जो इस सूत्र में संवर का ग्रहण करने के लिए 'स' शब्द दिया है, वह बतलाता है कि संवर, गुप्ति वगैरह से ही हो सकता है, किसी दूसरे उपाय से नहीं हो सकता; क्योंकि जो कर्म राग, द्वेष या मोह के निमित्त से बंधता है वह उनको दूर किये बिना नहीं रुक सकता।

अब संवर का प्रमुख कारण बतलाते हैं—

तपसा निर्जरा च ॥३॥

अर्थ— तप से संवर भी होता है और निर्जरा भी होती है।

विशेषार्थ— यद्यपि दस धर्मों में तप आ जाता है, फिर भी तप का अलग से ग्रहण यह बतलाने के लिए किया है कि तप से नवीन कर्मों का आना रुकता है और पहले बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा भी होती है। तथा तप संवर का प्रधान कारण है। यद्यपि तप को सांसारिक अभ्युदय का भी कारण बतलाया है, किन्तु तप का प्रधान फल तो कर्मों का क्षय होना है और गौण फल सांसारिक अभ्युदय की प्राप्ति है। अतः तप अनेक काम करता है।

अब गुप्ति का लक्षण कहते हैं -

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥४॥

अर्थ—योग अर्थात् मन, वचन और काय की स्वेच्छाचारिता को रोकना गुप्ति है। लौकिक प्रतिष्ठा अथवा विषयसुख की इच्छा से मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को रोकना, गुप्ति नहीं है; यह बतलाने के लिये ही सूत्र में 'सम्यक्' पद दिया है। अतः जिससे परिणामों में किसी तरह का संक्लेश पैदा न हो, इस रीति से मन, वचन और काय की स्वेच्छाचारिता को रोकने से उसके निमित्त से होने वाला कर्मों का आस्रव नहीं होता। उस गुप्ति के तीन भेद हैं– कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति।

यद्यपि गुप्ति का पालक मुनि मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को रोकता है, किन्तु आहार के लिये, विहार के लिये और शौच आदि के लिये उसे प्रवृत्ति अवश्य करनी पड़ती है। अतः प्रवृत्ति करते हुए भी जिससे आस्रव नहीं हो ऐसा उपाय बतलाने के लिये समिति को कहते हैं—

ईर्या-भाषैषणादान-निक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥

अर्थ—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं। यहाँ पूर्व सूत्र से 'सम्यक्' पद की अनुवृत्ति होती है, अतः पाँचों में

सम्यक् पद लगा लेना चाहिए। अर्थात् सम्यक् ईर्या, सम्यक्भाषा, सम्यक् एषणा, सम्यक् आदाननिक्षेप और सम्यक् उत्सर्ग।

सूर्य का उदय हो जाने पर जब प्रकाश इतना फैल जाये कि आँखों से प्रत्येक वस्तु साफ दिखायी देने लगे, उस समय मनुष्यों के पद संचार से जो मार्ग प्रासुक हो उस मार्ग पर चार हाथ जमीन आगे देखते हुए, सब ओर से मन को रोक कर धीरे-धीरे गमन करना ईर्या समिति है।

हित-मित और सन्देह रहित वचन बोलना भाषासमिति है। अर्थात् मिथ्या वचन, निन्दापरक वचन, अप्रिय वचन, कषाय के वचन, भेद डालने वाले वचन, निस्सार अथवा अल्पसार वाले वचन, सन्देह से भरे हुए वचन, भ्रम पैदा करने वाले वचन, हास्य वचन, अयुक्त वचन, असभ्य वचन, कठोर वचन, अधर्मपरक वचन और अतिप्रशंसा परक वचन साधु को नहीं बोलना चाहिए। दिन में एक बार श्रावक के घर जाकर नवधाभक्ति पूर्वक तथा कृत, कारित, अनुमोदना आदि दोषों से रहित दिया हुआ निर्दोष आहार खड़े होकर अपने पाणिपात्र में ही ग्रहण करना एषणा समिति है। शास्त्र, कमण्डलु आदि धर्म के उपकरणों को देखभाल कर तथा पिच्छिका से साफ करके रखना उठाना आदाननिक्षेपण समिति है। त्रस और स्थावर जीवों को जिससे बाधा न पहुँचे इस तरह से शुद्ध जन्तु रहित भूमि में मल-मूत्र आदि करना उत्सर्ग समिति है। इस तरह ये पाँचों समितियाँ संवर की कारण हैं।

शंका—ये समितियाँ तो वचन गुप्ति और कायगुप्ति के ही अन्तर्भूत हैं, इन्हें अलग क्यों कहा ?

समाधान—काल का प्रमाण करके समस्त योगों का निग्रह करना तो गुप्ति है। और जो अधिक समय तक गुप्ति का पालन करने में असमर्थ हैं, उनका शुभ क्रियाओं में सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करना समिति है। यही दोनों में भेद है।

अब दस धर्मों को कहते हैं—

उत्तमक्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागाकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥६॥

अर्थ—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य, ये दस धर्म के भेद हैं। क्रोध की उत्पत्ति के निमित्त होते हुए भी परिणामों में मलिनता न होना क्षमा है। उत्तम जाति, कुल, रूप, विज्ञान, ऐश्वर्य वगैरह के होते हुए भी उनका घमण्ड नहीं करना मार्दव है। मन, वचन और काय की कुटिलता का न होना आर्जव है। लोभ का अत्यन्त अभाव शौच है। लोभ चार प्रकार का होता है—जीवन का लोभ, नीरोगता का लोभ, इन्द्रियों का लोभ और भोग्य सामग्री का लोभ। इन चारों ही लोभों का अभाव होना शौच धर्म है। सज्जन पुरुषों के बीच में सुन्दर वचन बोलना सत्य धर्म है।

शंका— सत्य धर्म और भाषा समिति में क्या अन्तर है ?

समाधान— संयमी मनुष्य साधुजनों से या असाधुजनों से बातचीत करते समय हित मित ही बोलता है, अन्यथा यदि बहुत बातचीत करे तो राग और अनर्थ-दण्ड आदि दोषों का भागी होता है। यह भाषासमिति है। किन्तु सत्य धर्म में संयमी जनों को अथवा श्रावकों को ज्ञान चारित्र आदि की शिक्षा देने के उद्देश्य से अधिक बोलना भी बुरा नहीं है।

ईर्या समिति वगैरह का पालन करते समय एकेन्द्रिय आदि जीवों को पीड़ा न पहुँचाना प्राणिसंयम है और इन्द्रियों के विषयों में राग का न होना इन्द्रियसंयम है। इस तरह संयम दो प्रकार का है। कर्मों का क्षय करने के लिए अनशन आदि करना तप है। चेतन और अचेतन परिग्रह को छोड़ना त्याग है। शरीर वगैरह से भी ममत्व न करना आकिंचन्य है। पहले भोगी हुई स्त्री को स्मरण न करके तथा स्त्री मात्र की कथा के सुनने से विरक्त होकर स्त्री से संयुक्त शय्या, आसन पर भी न बैठना और अपनी आत्मा में ही लीन रहना ब्रह्मचर्य है।

ये दस धर्म संवर के कारण हैं। इनके पहले जो उत्तम विशेषण लगाया है, वह यह बतलाने के लिए लगाया है कि किसी लौकिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए क्षमा आदि को अपनाना उत्तम क्षमा नहीं है।

इसके बाद बारह अनुप्रेक्षाओं को कहते हैं—

अनित्याशरण-संसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्त्रव-संवर-निर्जरा-लोकबोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा: ॥७॥

अर्थ—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि-दुर्लभ, धर्मस्वाख्यात इन बारहों के स्वरूप का बार-बार चिंतन करना अनुप्रेक्षा है।

इन्द्रियों के विषय, धन, यौवन, जीवन वगैरह जल के बुलबुले के समान क्षणभंगुर हैं—ऐसा विचारना अनित्य अनुप्रेक्षा है। ऐसा विचारते रहने से इनका वियोग होने पर भी दु:ख नहीं होता ॥१॥ इस संसार में कोई शरण नहीं है। पालपोस कर पुष्ट हुआ शरीर भी कष्ट में साथ नहीं देता, बल्कि उल्टा कष्ट का ही कारण होता है। बन्धु-बान्धव भी मृत्यु से नहीं बचा सकते। इस प्रकार का विचार करना अशरण अनुप्रेक्षा है ॥२॥ संसार के स्वभाव का विचार करना संसारानुप्रेक्षा है। संसार में मैं अनादिकाल से अकेला ही घूमता हूँ। न कोई मेरा अपना है और न कोई पराया। धर्म ही एक मेरा सहायक है। ऐसा विचारना एकत्व अनुप्रेक्षा है ॥४॥ शरीर वगैरह से अपने को भिन्न विचारना अन्यत्व अनुप्रेक्षा है। शरीर की अपवित्रता का विचार करना अशुचित्व अनुप्रेक्षा है ॥६॥ आस्त्रव के दोषों का विचार करना आस्त्रव अनुप्रेक्षा है ॥७॥ संवर के गुणों का विचार करना संवर अनुप्रेक्षा है ॥८॥ निर्जरा के गुण-दोषों का विचार करना निर्जरा अनुप्रेक्षा है ॥९॥ लोक के आकार वगैरह का विचार करना लोक अनुप्रेक्षा है। इसका विचार करने से ज्ञान की विशुद्धि होती है ॥१०॥ ज्ञान की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है, अतः ज्ञान को पाकर विषय सुख में नहीं डूबना चाहिए इत्यादि विचारना बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा है ॥११॥ अर्हन्त भगवान् के द्वारा कहा गया धर्म, मोक्ष की प्राप्ति का कारण है इत्यादि विचार करना धर्म

अनुप्रेक्षा है ॥१२॥ इन बारह अनुप्रेक्षाओं की भावना करने से मनुष्य उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों को भी अच्छी रीति से पालता है और आगे कही जाने वाले परीषहों को भी जीतने का उत्साह करता है। इसी से अनुप्रेक्षाओं को धर्म और परीषहों के बीच में रखा है।

परीषह क्यों सहना चाहिए ? यह प्रश्न होने पर परीषहों को सहने का उद्देश्य बतलाते हैं—

मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढव्याः परिषहाः ॥८॥

अर्थ— संवर के मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिये परीषहों को सहना चाहिए। अर्थात् जो स्वेच्छा से भूख-प्यास वगैरह के परीषह को सहते हैं, उनके ऊपर जब कोई उपसर्ग आता है, तो कष्ट सहन करने का अभ्यास होने से वे उन उपसर्गों से घबरा कर अपने मार्ग से डिगते नहीं हैं। और इनके सहन करने से कर्मों की निर्जरा भी होती है। अतः विपत्ति के समय मन को स्थिर रखने के लिये परीषहों को सहना ही उचित है।

उद्देश्य बतलाकर परीषहों के स्वरूप को कहते हैं—

क्षुत्पिपासा-शीतोष्ण-दंशमशक-नाग्न्यारति-स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्याक्रोश-वध-याचनाऽलाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कारपुरस्कार-प्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥९॥

अर्थ—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषह हैं। मोक्षार्थी को इन्हें सहना चाहिए।

अत्यन्त भूख की पीड़ा होने पर धैर्य के साथ उसे सहना क्षुधा परीषह जय है ॥१॥ प्यास की कठोर वेदना होते हुए भी प्यास के वश में नहीं होना पिपासा परीषह जय है ॥२॥ शीत से पीड़ित होते हुए भी शीत का प्रतिकार करने की भावना भी मन में न होना शीत परीषह जय है ॥३॥

ग्रीष्म ऋतु आदि के कारण गर्मी का घोर कष्ट होते हुए भी उससे विचलित न होना उष्ण परीषह जय है ॥४॥ डांस, मच्छर, मक्खी, पिस्सु वगैरह के काटने पर भी परिणामों में विषाद का न होना दंशमशक परीषह जय है ॥५॥ माता के गर्भ से उत्पन्न हुए बालक की तरह निर्विकार नग्न रूप धारण करना नाग्न्य परीषह जय है ॥६॥ अरति उत्पन्न होने के अनेक कारण होते हुए भी संयम में अत्यन्त प्रेम होना अरति परीषह जय है ॥७॥ स्त्रियों के द्वारा बाधा पहुँचायी जाने पर भी उनके रूप को देखने की अथवा उनका आलिंगन करने की भावना का भी न होना स्त्री परीषह जय है ॥८॥ पवन की तरह एकाकी विहार करते हुए भयानक वन में भी सिंह की तरह निर्भय रहना और नंगे पैरों में कंकर-पत्थर चुभने पर भी खेद-खिन्न न होना चर्या परीषह जय है ॥९॥ जिस आसन से बैठे हों उससे विचलित न होना निषद्या परीषहजय है ॥१०॥ रात्रि में ऊँची-नीची कठोर भूमि पर पूरा बदन सीधा रखकर एक करवट से सोना शय्या परीषह जय है ॥११॥ अत्यन्त कठोर वचनों को सुनकर भी शान्त रहना आक्रोश परीषह जय है ॥१२॥ जैसे चन्दन को जलाने पर भी वह सुगन्ध ही देता है, वैसे ही अपने को मारने-पीटने वालों पर भी क्रोध न करके उनका भला ही विचारना वध परीषह जय है ॥१३॥ आहार वगैरह के न मिलने से भले ही प्राण चले जायें। किन्तु किसी से याचना करना तो दूर, मुँह पर दीनता भी न लाना याचना परीषह जय है ॥१४॥ आहारादि का लाभ न होने पर भी वैसा ही सन्तुष्ट रहना, जैसा लाभ होने पर यह अलाभ परीषह जय है ॥१५॥ शरीर में अनेक व्याधियाँ होते हुए भी उनकी चिकित्सा का विचार भी न करना रोग परीषह जय है ॥१६॥ तृण काँटे वगैरह की वेदना को सहना तृणस्पर्श परीषह जय है ॥१७॥ अपने शरीर में लगे हुए मल की ओर लक्ष्य न देकर आत्म-भावना में ही लीन रहना मल परीषह जय है ॥१८॥ सम्मान और अपमान में समभाव रखना और आदर-सत्कार न होने पर खेद-खिन्न न होना, सत्कार पुरस्कार परीषह जय है ॥१९॥ अपने पाण्डित्य का गर्व न होना प्रज्ञा परीषह जय है ॥२०॥ यदि कोई तिरस्कार करे, तू अज्ञानी है,

कुछ जानता नहीं है तो उससे खिन्न न होकर ज्ञान की प्राप्ति का ही बराबर प्रयत्न करते रहना, अज्ञान परीषह है ॥२१॥ श्रद्धान से च्युत होने के निमित्त उपस्थित होने पर भी मुनिमार्ग में बराबर आस्था बनाये रखना अदर्शन परीषह जय है ॥२२॥ इस तरह इन बाईस परीषहों को संक्लेश रहित चित्त से सहन करने से महान् संवर होता है।

किस गुणस्थान में कितनी परीषह होते हैं, यह बतलाते हैं—

सूक्ष्मसाम्परायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥१०॥

अर्थ—सूक्ष्म साम्पराय नाम के दसवें गुणस्थान में और छद्मस्थ-वीतराग यानि ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान ये चौदह परीषह होते हैं। मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले आठ परीषह नहीं होते, क्योंकि ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का उदय ही नहीं है। दसवें में केवल लोभ संज्वलन कषाय का उदय है, वह भी अत्यन्त सूक्ष्म है। अतः दसवाँ गुणस्थान भी वीतराग छद्मस्थ के ही तुल्य है। इसलिए उसमें भी मोहजन्य आठ परीषह नहीं होते।

एकादश जिने ॥११॥

अर्थ—चार घातिया कर्मों से रहित जिन भगवान् में वेदनीय कर्म का सद्भाव होने से ग्यारह परीषह होते हैं।

शंका— यदि केवली भगवान् में ग्यारह परीषह होते हैं, तो उन्हें भूख-प्यास की बाधा भी होनी चाहिए।

समाधान— मोहनीय कर्म का उदय न होने से वेदनीय कर्म में भूख-प्यास की वेदना को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रहती। जैसे मन्त्र और औषधि के बल से जिसकी मारने की शक्ति नष्ट कर दी जाती है। उस विष को खाने से मरण नहीं होता है, वैसे ही घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने से अनन्त चतुष्टय से युक्त केवली भगवान् के अन्तराय कर्म का भी अभाव हो जाता है और लगातार शुभ नो-कर्म वर्गणाओं का संचय होता रहता है।

इन कारणों से निःसहाय वेदनीय कर्म अपना काम नहीं कर सकता। इसी से केवली के भूख-प्यास की वेदना नहीं होती। फिर भी उनके वेदनीय का उदय है। अतः ग्यारह परीषह उपचार से कहे हैं।

अन्य गुणस्थानों में परीषह कहते हैं—

बादर-साम्पराये सर्वे ॥१२॥

अर्थ— बादर साम्पराय अर्थात् छठे से लेकर नौवें गुणस्थान तक सब परीषह होते हैं।

विशेषार्थ—यद्यपि नौवें गुणस्थान का नाम बादर साम्पराय है। किन्तु यहाँ बादरसाम्पराय से नौवां गुणस्थान न लेकर 'बादरसाम्पराय' शब्द का अर्थ लेना चाहिए। अर्थात् बादर यानि स्थूल और साम्पराय यानि कषाय जिनमें पायी जाती है ऐसे गुणस्थान छठे से नौवें तक हैं। उनमें कषाय का उदय होने से सभी परीषह होते हैं।

किस कर्म के उदय से कौन परीषह होता है। यह भी बतलाते हैं—

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥१३॥

अर्थ— ज्ञानावरण के होने पर प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं।

शंका—ज्ञानावरण का उदय होने पर अज्ञान परीषह का होना तो ठीक है, परन्तु प्रज्ञा तो ज्ञानावरण के चले जाने पर होती है; क्योंकि प्रज्ञा का अर्थ है ज्ञान और ज्ञान आत्मा का स्वभाव है ?

समाधान—प्रज्ञा परीषह का अर्थ है ज्ञान का मद हो तो उसे न होने देना। सो मद ज्ञानावरण के उदय में ही होता है; जिनके समस्त ज्ञानावरण नष्ट हो जाता है,उनके ज्ञान का मद नहीं होता। अतः प्रज्ञा परीषह ज्ञानावरण के उदय में ही होता है।

दर्शन-मोहान्तराययो-रदर्शनालाभौ ॥१४॥

अर्थ— दर्शनमोह के होने पर अदर्शन परीषह होता है और अन्तराय कर्म के उदय से अलाभ परीषह होता है।

चारित्रमोहे नाग्न्यारति-स्त्री-निषद्याक्रोश-याचना-सत्कारपुरस्काराः॥१५॥

अर्थ—चारित्र मोहनीय के उदय में नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार ये सात परीषह होते हैं।

वेदनीये शेषाः ॥१६॥

अर्थ—शेष ग्यारह परीषह अर्थात् क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल परीषह वेदनीय कर्म के उदय में होते हैं।

एक व्यक्ति में एक साथ कितने परीषह हो सकते हैं— यह बतलाते हैं—

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥१७॥

अर्थ— एक जीव के एक साथ एक से लेकर उन्नीस परीषह तक हो सकते हैं, क्योंकि शीत और उष्ण में से एक समय में एक ही होगा। तथा चर्या, शय्या और निषद्या में से एक ही होगा। अतः तीन के कम हो जाने से शेष उन्नीस परीषह एक साथ एक व्यक्ति में हो सकते हैं।

अब चारित्र के भेद कहते हैं—

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराय यथाख्यातमिति चारित्रम् ॥१८॥

अर्थ—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात, इस तरह पाँच प्रकार का चारित्र है। समस्त सावद्ययोग का एकरूप त्याग करना सामायिक चारित्र है। सामायिक चारित्र से डिगने पर प्रायश्चित के द्वारा सावद्य व्यापार में लगे हुए दोषों को छेदकर पुनः संयम धारण करना छेदोपस्थापना चारित्र है। अथवा समस्त सावद्य योग का भेद रूप से त्याग करना छेदोपस्थापना चारित्र है। अर्थात् मैंने समस्त पाप कार्यों का त्याग किया। यह सामायिक चारित्र का रूप है और मैंने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग किया, यह छेदोपस्थापना चारित्र का

रूप है। जिस चारित्र में प्राणीहिंसा की पूर्णनिवृत्ति होने से विशिष्ट विशुद्धि पायी जाती है, उसे परिहार विशुद्धि कहते हैं। जिसने अपने जन्म से तीस वर्ष की अवस्था तक सुखपूर्वक जीवन बिताया हो और फिर जिनदीक्षा लेकर आठ वर्ष तक तीर्थंकर के निकट प्रत्याख्यान नाम के नौवें पूर्व को पढ़ा हो और तीनों सन्ध्या कालों को छोड़ कर दो कोस विहार करने का जिसके नियम हो, उस दुर्द्धर चर्या के पालक महामुनि को ही परिहार विशुद्धि चारित्र होता है। इस चारित्र वाले के शरीर से जीवों का घात नहीं होता, इसी से इसका नाम परिहार विशुद्धि है। अत्यन्त सूक्ष्म कषाय के होने से सूक्ष्म साम्पराय नाम के दसवें गुणस्थान में जो चारित्र होता है, उसे सूक्ष्म साम्पराय चारित्र कहते हैं। समस्त मोहनीय कर्म के उपशम से अथवा क्षय से जैसा आत्मा का निर्विकार स्वभाव है, वैसा ही स्वभाव हो जाना यथाख्यात चारित्र है। इस चारित्र को अथाख्यात भी कहते हैं, क्योंकि अथ शब्द का अर्थ अनन्तर है और यह समस्त मोहनीय के क्षय अथवा उपशम होने के अन्तर ही होता है। तथा इसे तथाख्यात भी कहते हैं; क्योंकि जैसा आत्मा का स्वभाव है, वैसा ही इस चारित्र का स्वरूप है। सूत्र में जो यथाख्यात के बाद इति शब्द है, वह यह बतलाता है कि यथाख्यात चारित्र से सकल कर्मों के क्षय की पूर्ति हो जाती है ॥१८॥

आगे तप का कथन करते हैं। तप के दो भेद हैं— बाह्यतप और अभ्यन्तर तप। इनमें से भी प्रत्येक के छह भेद हैं। पहले बाह्य तप के छह भेद कहते हैं—

अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-
रसपरित्याग-विविक्तशय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः ॥१९॥

अर्थ— अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त-शय्यासन, कायक्लेश, ये छह बाह्यतप के भेद हैं।

ख्याति, पूजा, मन्त्र-सिद्धि वगैरह लौकिक फल की अपेक्षा न करके, संयम की सिद्धि, राग का उच्छेद, कर्मों का विनाश, ध्यान तथा स्वाध्याय की सिद्धि के लिए भोजन का त्याग करना अनशन तप है। संयम को जागृत रखने के लिए, विकारों की शान्ति के लिए, सन्तोष और

स्वाध्याय आदि की सुखपूर्वक सिद्धि के लिए अल्प आहार करना अवमौदर्य तप है। जब मुनि भिक्षा के लिए निकलें तो घरों का नियम करना कि मैं आहार के लिए इतने घर जाऊँगा अथवा अमुक रीति से आहार मिलेगा तो लूँगा, इसे वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते हैं। यह तप भोजन की आशा को रोकने के लिए किया जाता है। इन्द्रियों के दमन के लिए, निद्रा पर विजय पाने के लिए तथा सुखपूर्वक स्वाध्याय करने के लिए घी, दूध, दही, तेल, मीठा और नमक का यथायोग्य त्याग करना रस परित्याग तप है। ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यान आदि की सिद्धि के लिए एकान्त में शयन करना तथा आसन लगाना विविक्त शय्यासन तप है। कष्ट सहने के अभ्यास के लिए, आराम तलबी की भावना को दूर करने के लिए और धर्म की प्रभावना के लिए ग्रीष्म ऋतु में वृक्ष के नीचे ध्यान लगाना, शीत ऋतु में खुले मैदान में सोना, अनेक प्रकार के आसन लगाना आदि कायक्लेश तप है। बाह्य द्रव्य खान-पान आदि की अपेक्षा से ये तप किये जाते हैं तथा इन तपों का पता दूसरे लोगों को भी लग जाता है, इसलिये इन्हें बाह्य तप कहते हैं।

शंका—परीषह में और कायक्लेश तप में क्या अन्तर है ?

समाधान—कायक्लेश स्वयं किया जाता है और परीषह अचानक आ जाते हैं।

अब अभ्यन्तर तप के भेद कहते हैं—

प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-
व्युत्सर्ग ध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥

अर्थ— प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान- ये छह अभ्यन्तर तप हैं। ये तप मन को वश में करने के लिए किये जाते हैं, इसलिए उन्हें अभ्यन्तर तप कहते हैं।

प्रमाद से लगे हुए दोषों को दूर करना प्रायश्चित्त तप है। पूज्य पुरुषों का आदर करना विनय तप है। शरीर वगैरह के द्वारा सेवा सुश्रुषा करने को वैयावृत्य कहते हैं। आलस्य त्याग कर ज्ञान का आराधन करना स्वाध्याय

है। ममत्व के त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं। और चित्त की चंचलता के दूर करने को ध्यान कहते हैं।

इसके बाद इन अभ्यन्तर तपों के उप-भेदों की संख्या कहते हैं–

नव-चतुर्दश-पञ्च-द्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

अर्थ–प्रायश्चित्त के नौ भेद हैं। विनय के चार भेद हैं। वैयावृत्य के दस भेद हैं। स्वाध्याय के पाँच भेद हैं और व्युत्सर्ग के दो भेद हैं। इस तरह ध्यान से पहले पाँच प्रकार के तपों के ये भेद हैं।

अब प्रायश्चित्त के नौ भेद कहते हैं–

आलोचना-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥२२॥

अर्थ–आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय यानि आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना-ये नौ भेद प्रायश्चित्त के हैं।

गुरु से अपने प्रमाद को निवेदन करने का नाम आलोचना है। वह आलोचना दस दोषों को बचाकर करनी चाहिए। [वे दोष इस प्रकार हैं– आचार्य अपने ऊपर दया करके थोड़ा प्रायश्चित्त दें, इस भाव से आचार्य को पिच्छिका-कमण्डलु आदि भेंट करके दोष का निवेदन करना आकम्पित दोष है। गुरु की बातचीत से प्रायश्चित्त का अनुमान लगाकर दोष का निवेदन करना अनुमापित दोष है। जो दोष किसी ने करते नहीं देखा, उसे छिपा जाना और जो दोष करते देख लिया, उसे गुरु से निवेदन करना दृष्ट दोष है। केवल स्थूल दोष का निवेदन करना, बादर दोष है। महान् प्रायश्चित के भय से महान् दोष को छिपा लेना और छोटे दोष का निवेदन करना सूक्ष्म दोष है। दोष निवेदन करने से पहले गुरु से पूछना कि महाराज! यदि कोई ऐसा दोष करे तो उसका क्या प्रायश्चित्त होता है, यह छन्न दोष है। प्रतिक्रमण के दिन जब बहुत से साधु एकत्र हुए हों और खूब हल्ला हो रहा हो उस समय दोष का निवेदन करना, जिससे कोई सुन न सके,

शब्दाकुलित दोष है। गुरु ने जो प्रायश्चित्त दिया है, वह उचित है या नहीं, ऐसी आशंका से अन्य साधुओं से पूछना बहुजन नाम का दोष है। गुरु से दोष न कहकर अपने सहयोगी अन्य साधुओं से अपना दोष कहना अव्यक्त नाम का दोष है। और गुरु से प्रमाद का निवेदन न करके, जिस साधु ने अपने समान अपराध किया हो, उससे जाकर पूछना कि तुझे गुरु ने क्या प्रायश्चित दिया है, क्योंकि तेरे समान ही मेरा भी अपराध है, जो प्रायश्चित्त तुझे दिया है, वही मेरे लिये भी युक्त है, यह तत्सेवी नाम का दोष है। इस तरह दस दोष रहित प्रमाद का निवेदन करना आलोचना प्रायश्चित्त है]।

प्रमाद से जो दोष मुझसे हुआ है, वह मिथ्या हो इस तरह अपने किये हुए दोष के विरुद्ध अपनी मानसिक प्रतिक्रिया को प्रकट करना प्रतिक्रमण है। कोई अपराध तो केवल आलोचना से ही शुद्ध हो जाता है, कोई अपराध तो केवल प्रतिक्रमण से ही शुद्ध होता है और कोई आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों से शुद्ध होता है, यही तदुभय प्रायश्चित है। सदोष आहार तथा उपकरणों का संसर्ग होने पर उसका त्याग करना विवेक प्रायश्चित्त है। कुछ समय के लिए कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। अनशन आदि करना तप प्रायश्चित्त है। दीक्षा के समय को छेद देना, जैसे कोई बीस वर्ष का दीक्षित साधु है, अपराध करने के कारण उसकी दस वर्ष की दीक्षा छेद दी गई, अतः अब वह दस वर्ष का दीक्षित माना जायेगा और जो दस वर्ष से एक दिन अधिक के भी दीक्षित साधु हैं, उन्हें इसे नमस्कार करना होगा। यह छेद प्रायश्चित्त है। कुछ समय के लिए संघ से निकाल देना परिहार प्रायश्चित्त है। और पुरानी दीक्षा को छेदकर फिर से दीक्षा देना उपस्थापना प्रायश्चित्त है।

अब विनय तप के भेद कहते हैं—

ज्ञान-दर्शन-चारित्रोपचाराः ॥२३॥

अर्थ— ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय- ये चार भेद विनय के हैं। आलस्य त्यागकर आदरपूर्वक सम्यग्ज्ञान का

ग्रहण करना, अभ्यास करना आदि ज्ञान विनय है। तत्त्वार्थ का शंका आदि दोष रहित श्रद्धान करना दर्शन विनय है। अपने मन को चारित्र के पालन में लगाना चारित्र विनय है और आचार्य आदि पूज्य पुरुषों को देखकर उनके लिए उठना, सन्मुख जाकर हाथ जोड़कर वन्दना करना तथा परोक्ष में भी उन्हें नमस्कार करना, उनके गुणों का स्मरण वगैरह करना, उनकी आज्ञा का पालन करना, यह सब उपचार विनय है।

अब वैय्यावृत्य तप के भेद कहते हैं—

आचार्योपाध्याय-तपस्वि-शैक्ष्य-ग्लान-गण-कुल-संघ-साधु-मनोज्ञानाम् ॥२४॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ—इन दस प्रकार के साधुओं की अपेक्षा से वैय्यावृत्य के दस भेद हैं।

जिनके पास जाकर सब मुनि व्रताचरण करते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं। जिनके पास जाकर मुनिगण शास्त्राभ्यास करते हैं, उन्हें उपाध्याय कहते हैं। जो साधु बहुत व्रत, उपवास आदि करते हैं, उन्हें तपस्वी कहते हैं। जो साधु श्रुत का अभ्यास करते हैं, उन्हें शैक्ष कहते हैं। रोगी साधुओं को ग्लान कहते हैं। वृद्ध मुनियों की परिपाटी में जो मुनि होते हैं, उन्हें गण कहते हैं। दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य परम्परा को कुल कहते हैं। ऋषि, यति, मुनि और अनगार के भेद से चार प्रकार के साधुओं के समूह को संघ कहते हैं। अथवा मुनि, आर्यिका और श्रावक, श्राविका के समूह को संघ कहते हैं। बहुत समय के दीक्षित मुनि को साधु कहते हैं। जिसका उपदेश लोकमान्य हो अथवा जो लोक में पूज्य हो उस साधु को मनोज्ञ कहते हैं। इनको कोई व्याधि हो जाये या कोई उपसर्ग आ जाये या किसी का श्रद्धान विचलित होने लगे तो उसका प्रतिकार करना, यानि रोग का इलाज करना, संकट को दूर करना, उपदेश आदि के द्वारा श्रद्धान को दृढ़ करना वैय्यावृत्य है।

अब स्वाध्याय तप के भेद कहते हैं—

वाचना-पृच्छनानुप्रेक्षाम्नाय-धर्मोपदेशाः ॥२५॥

अर्थ—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश-ये पाँच स्वाध्याय के भेद हैं। धर्म के इच्छुक विनयशील पात्रों को शास्त्र देना, शास्त्र का अर्थ बतलाना वाचना तथा शास्त्र भी देना और उसका अर्थ भी बतलाना वाचना है। संशय को दूर करने के लिए अथवा निश्चय करने के लिए विशिष्ट ज्ञानियों से प्रश्न करना पृच्छना है। जाने हुए अर्थ का मन से अभ्यास करना अर्थात् उसका बार-बार विचार करना अनुप्रेक्षा है। शुद्धता पूर्वक पाठ करना आम्नाय है। धर्म का उपदेश करना धर्मोपदेश है। इस तरह स्वाध्याय के पाँच भेद हैं। स्वाध्याय करने से ज्ञान बढ़ता है, वैराग्य बढ़ता है, तप बढ़ता है, व्रतों में अतिचार नहीं लगने पाता तथा स्वाध्याय से बढ़कर दूसरा कोई सरल उपाय मन को स्थिर करने का नहीं है। अतः स्वाध्याय करना हितकर है।

अब व्युत्सर्ग तप के भेद कहते हैं—

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥२६॥

अर्थ—त्याग को ही व्युत्सर्ग कहते हैं। उसके दो भेद हैं- बाह्य उपधि त्याग और अभ्यन्तर उपधि त्याग। आत्मा से जुदे धन-धान्य वगैरह का त्याग करना बाह्य उपधि त्याग है और क्रोध, मान, माया आदि भावों का त्याग करना अभ्यन्तर उपधि त्याग है। कुछ समय के लिए अथवा जीवन भर के लिए शरीर से ममत्व का त्याग करना भी अभ्यन्तरोपधि त्याग ही कहा जाता है। इसके करने से मनुष्य निर्भय हो जाता है, वह हल्कापन अनुभव करता है तथा फिर जीवन की तृष्णा उसे नहीं सताती।

अब ध्यान का वर्णन करते हैं—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥२७॥

अर्थ—उत्तम संहनन के धारक मनुष्य का अपने चित्त की वृत्ति को सब ओर से रोक कर एक ही विषय में लगाना ध्यान है। यह ध्यान अधिक

से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है।

विशेषार्थ—आदि के तीन संहनन उत्तम हैं। वे ही ध्यान के कारण हैं। किन्तु उनमें से मोक्ष का कारण एक वज्रवृषभनाराच संहनन ही है। अन्य संहनन वाले का मन अन्तर्मुहूर्त भी एकाग्र नहीं रह सकता।

शंका—यदि ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक ही हो सकता है तो आदिनाथ भगवान् ने छह मास तक ध्यान कैसे किया?

समाधान—ध्यान की सन्तान को भी ध्यान कहते हैं। अतः एक विषय में लगातार ध्यान तो अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है। उसके बाद ध्येय बदल जाता है। और ध्यान की सन्तान चलती रहती है, अस्तु।

इस सूत्र में तीन बातें बतलायी हैं—ध्याता, ध्यान का स्वरूप और ध्यान का काल। सो उत्तम संहनन का धारी पुरुष तो ध्याता हो सकता है। एक पदार्थ को लेकर उसी में चित्त को स्थिर कर देना ध्यान है। जब विचार का विषय एक पदार्थ न होकर नाना पदार्थ होते हैं, तब वह विचार ज्ञान कहलाता है। और जब वह ज्ञान एक ही विषय में स्थिर हो जाता है, तब उसे ही ध्यान कहते हैं। उस ध्यान का काल अन्तर्मुहूर्त होता है।

अब ध्यान के भेद कहते हैं—

आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥२८॥

अर्थ—ध्यान के चार भेद होते हैं—आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल। इनमें से आदि के दो ध्यान अशुभ हैं, उनसे पाप का बन्ध होता है। शेष दो ध्यान शुभ हैं, उनके द्वारा कर्मों का नाश होता है ॥२८॥

यही बात कहते हैं—

परे मोक्षहेतू ॥२९॥

अर्थ—अन्त के धर्म्य और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं। इससे यह मतलब निकला कि आदि के आर्त और रौद्रध्यान संसार के कारण हैं।

अब आर्तध्यान के भेद और उनके लक्षण कहते हैं—

आर्त्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥३०॥

अर्थ– विष, काँटा, शत्रु आदि अप्रिय वस्तुओं का समागम होने पर उनसे अपना पीछा छुड़ाने के लिए बार–बार चिंतन करना अनिष्ट-संयोग नामक आर्तध्यान है।

दूसरा भेद कहते हैं–

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥३१॥

अर्थ–पुत्र, धन, स्त्री आदि प्रिय वस्तुओं का वियोग हो जाने पर उनसे मिलन होने का बार–बार चिन्तन करना इष्ट–वियोग नामक आर्तध्यान है।

तीसरा भेद कहते हैं–

वेदनायाश्च ॥३२॥

अर्थ–वात आदि के विकार से शरीर में कष्ट होने पर रात–दिन उसी की चिन्ता करना वेदना नामक आर्तध्यान है।

अब चौथा भेद कहते हैं–

निदानं च ॥३३॥

अर्थ–भोगों की तृष्णा से पीड़ित होकर रात–दिन आगामी भोगों को प्राप्त करने की ही चिन्ता करते रहना निदान आर्तध्यान है। इस तरह आर्तध्यान के चार भेद हैं।

अब आर्तध्यान किसको होता है, यह बतलाते हैं–

तदविरत–देशविरत–प्रमत्तसंयतानाम् ॥३४॥

अर्थ–वह आर्तध्यान अविरत यानि पहले, दूसरे, तीसरे और चतुर्थ गुणस्थान वालों के, देशविरत श्रावकों के और प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले मुनियों के होता है। परन्तु प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले मुनियों के निदान नहीं होता। बाकी के तीन आर्तध्यान प्रमाद के उदय से जब कभी हो जाते हैं।

अब रौद्रध्यान के भेद और उनके स्वामियों को बताते हैं–

हिंसानृत-स्तेय-विषय-संरक्षणेभ्योरौद्रमविरत-देशविरतयोः ॥३५॥

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह संचय करने की चिन्ता करते रहने से रौद्रध्यान होता है। यह रौद्रध्यान पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान वालों के तथा देशविरत श्रावकों के होता है। किन्तु संयमी मुनि के नहीं होता; क्योंकि यदि कदाचित् मुनि को भी रौद्रध्यान हो जाये तो फिर वे संयम से भ्रष्ट समझे जायेंगे।

शंका—जो व्रती नहीं हैं, उनके रौद्रध्यान भले ही हो, किन्तु देशव्रती श्रावक के कैसे हो सकता है?

समाधान—श्रावक पर अपने धर्मायतनों की रक्षा का भार है, स्त्री, धन वगैरह की रक्षा करना अभीष्ट है, अतः इनकी रक्षा के लिए जब कभी हिंसा के आवेश में आ जाने से रौद्रध्यान हो सकता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि होने के कारण उसके ऐसा रौद्रध्यान नहीं होता, जो उसको नरक में ले जाये।

अब धर्मध्यान का स्वरूप व भेद बतलाते हैं—

आज्ञापायविपाक-संस्थान-विचयाय धर्म्यम् ॥३६॥

अर्थ—आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय ये धर्मध्यान के चार भेद हैं। अच्छे उपदेष्टा के न होने से, अपनी बुद्धि के मन्द होने से और पदार्थ के सूक्ष्म होने से जब युक्ति और उदाहरण की गति न हो तो ऐसी अवस्था में सर्वज्ञ देव के द्वारा कहे गये आगम को प्रमाण मानकर गहन पदार्थ का श्रद्धान कर लेना कि ''यह ऐसा ही है'', आज्ञा विचय है। अथवा स्वयं तत्त्वों का जानकार होते हुए भी दूसरों को उन तत्त्वों को समझाने के लिये युक्ति दृष्टान्त आदि का विचार करते रहना, जिससे दूसरों को ठीक ठीक समझाया जा सके, आज्ञा विचय है; क्योंकि उसका उद्देश्य संसार में जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का प्रचार करना है। जो लोग मोक्ष के अभिलाषी होते हुए भी कुमार्ग में पड़े हुए हैं, उनका विचार करना

कि कैसे वे मिथ्यात्व से छूटे, इसे अपाय विचय कहते हैं। कर्म के फल का विचार करना विपाक विचय है। लोक के आकार का तथा उसकी दशा का विचार करना संस्थान विचय है। ये धर्मध्यान अविरत, देशविरत, प्रमत्त संयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले जीव के होते हैं।

अब शुक्लध्यान के स्वामी बतलाते हैं—

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥३७॥

अर्थ—आदि के दो शुक्लध्यान सकल श्रुत के धारक श्रुतकेवली के होते हैं। 'च' शब्द से धर्मध्यान भी ले लेना चाहिए। अतः श्रेणी पर चढ़ने से पहले धर्मध्यान होता है और श्रेणी चढ़ने पर क्रम से दोनों शुक्लध्यान होते हैं।

अब बाकी के दो शुक्लध्यान किसके होते हैं, यह बतलाते हैं—

परे केवलिनः ॥३८॥

अर्थ—अन्त के दो शुक्लध्यान सयोग केवली और अयोग केवली के होते हैं।

अब शुक्ल ध्यान के भेद बतलाते हैं—

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति-
व्युपरत-क्रियानिवर्तीनि ॥३९॥

अर्थ—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरत क्रियानिवर्ति ये चार शुक्लध्यान के भेद हैं। ये सब नाम सार्थक हैं। इनका लक्षण आगे कहेंगे।

अब शुक्लध्यान का आलम्बन बतलाते हैं—

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥४०॥

अर्थ—पहला शुक्लध्यान तीनों योगों में होता है। दूसरा शुक्लध्यान तीनों योगों में से एक योग में होता है। तीसरा शुक्लध्यान काय योग में ही होता है।

अब आदि के दो शुक्लध्यानों का विशेष कथन करते हैं—

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥४१॥

अर्थ—आदि के दोनों शुक्लध्यान पूर्ण श्रुतज्ञानी के ही होते हैं, अतः दोनों का आधार एक ही है। तथा दोनों वितर्क और वीचार से सहित हैं।

इस कथन में थोड़ा अपवाद करते हैं—

अवीचारं द्वितीयम् ॥४२॥

अर्थ—किन्तु दूसरा शुक्लध्यान वीचार रहित है। अर्थात् पहला शुक्लध्यान तो वितर्क और वीचार दोनों से सहित है। किन्तु दूसरा शुक्लध्यान वितर्क से सहित है, पर वीचार से रहित है।

अब वितर्क का लक्षण कहते हैं—

वितर्कः श्रुतम् ॥४३॥

अर्थ—विशेषरूप से तर्क अर्थात् विचार करने को वितर्क कहते हैं। वितर्क नाम श्रुतज्ञान का है।

अब वीचार का लक्षण कहते हैं—

वीचारोऽर्थ-व्यञ्जन-योग-सङ्क्रान्तिः ॥४४॥

अर्थ—अर्थ से मतलब उस द्रव्य या पर्याय से है, जिसका ध्यान किया जाता है। व्यंजन का अर्थ वचन है और मन-वचन-काय की क्रिया को योग कहते हैं तथा संक्रान्ति का अर्थ परिवर्तन है। ध्यान करते समय द्रव्य को छोड़कर पर्याय का ध्यान करना और पर्याय को छोड़कर द्रव्य का ध्यान करना अर्थात् ध्यान के विषय का बदलना अर्थ संक्रान्ति है। श्रुत के किसी एक वाक्य को छोड़कर दूसरे वाक्य का सहारा लेना, उसे भी छोड़कर तीसरे वाक्य का सहारा लेना, इस तरह ध्यान करते समय वचन के बदलने को व्यंजनसंक्रान्ति कहते हैं। काययोग को छोड़कर अन्य योग का ग्रहण करना, उसे भी छोड़कर काययोग को ग्रहण करना योगसंक्रान्ति है। इन तीनों प्रकार की संक्रान्ति को वीचार कहते हैं। और जिस ध्यान में इस तरह का वीचार होता है, वह वीचार सहित है और जिसमें यह वीचार नहीं

होता, वह वीचार रहित है।

विशेषार्थ—अभ्यस्त साधु ही इस चार प्रकार के शुक्लध्यान को संसार से छूटने के लिए ध्याते हैं। उसका विशेष खुलासा इस प्रकार है– सबसे प्रथम ध्यान के लिए ऐसा स्थान चुनना चाहिए, जो एकदम एकान्त हो, जहाँ न मनुष्य का संचार हो, न सर्प, सिंह आदि पशुओं का उत्पात हो, जो न अति गरम हो और न अति शीतल, हवा और वर्षा की भी बाधा जहाँ न हो। सारांश यह है कि चित्त को चंचल करने का कोई साधन जहाँ न हो, ऐसे स्थान पर किसी साफ सुथरी जमीन में पर्यंकासन लगाकर अपने शरीर को सीधा रक्खें और अपनी गोदी में बाँए हाथ की हथेली पर दाहिने हाथ की हथेली रक्खे। नेत्र न एकदम बन्द हों और न एकदम खुले हों। दृष्टि सौम्य और स्थिर हो। दाँत से दाँत मिले हों। मुख थोड़ा उठा हुआ हो, प्रसन्न हो। श्वासोच्छ्वास मन्द मन्द चलता हो। ऐसी स्थिति में मन को नाभि देश में, हृदय में अथवा मस्तक वगैरह में एकाग्र करके मुमुक्षु को शुभ ध्यान करना चाहिए। सो जब साधु सातवें गुणस्थान से आठवें गुणस्थान में जाता है, तब द्रव्य परमाणु अथवा भाव परमाणु का ध्यान करता है। उस समय उसका मन ध्येय में और वाक्य में तथा काययोग और वचनयोग में घूमता रहता है। अर्थात् अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रान्ति रूप वीचार चलता रहता है। जैसे कोई बालक हाथ में ठूंठी तलवार लेकर उसे ऐसे उत्साह से चलाता है, मानो वृक्ष को काटे डालता है, वैसे ही वह ध्याता भी मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय करता हुआ पृथक्त्व वितर्क वीचार नाम के शुक्लध्यान को करता है। वही ध्याता जड़मूल से मोहनीय कर्म को नष्ट करने की इच्छा से पहले से अनन्त गुना विशुद्ध ध्यान का आलम्बन लेकर अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रान्ति को हटाकर मन को निश्चय करके जब बारहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है तो फिर ध्यान लगाकर पीछे नहीं हटता, इसलिए उसे एकत्व वितर्क वीचार ध्यान वाला कहते हैं। इस एकत्व वितर्क ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा घातिया कर्मरूपी ईंधन को जला देने पर, जैसे मेघ पटल के हट जाने पर मेघों में छिपा हुआ

सूर्य प्रकट होता है, वैसे ही कर्मों का आवरण हट जाने पर केवलज्ञान रूपी सूर्य प्रकट हो जाता है। उस समय वह तीर्थंकर केवली अथवा सामान्य केवली होकर अपनी आयुपर्यन्त देश में विहार करते हैं। जब आयु अन्तर्मुहर्त बाकी रहती है और वेदनीय, नाम तथा गोत्र कर्म की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त ही शेष होती है, तो वह समस्त वचन योग मनोयोग और बादर काययोग को छोड़कर सूक्ष्म काययोग का आलंबन लेकर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान को करते हैं। किन्तु यदि आयुकर्म की स्थिति अन्तर्मुहूर्त शेष हो और शेष तीन कर्मों की स्थिति अधिक हो तो केवली समुद्घात करते हैं। उसमें आठ समय लगते हैं। पहले समय में आत्मप्रदेशों को फैलाकर दण्ड के आकार करते हैं, दूसरे समय में कपाट के आकार करते हैं, तीसरे समय में प्रतररूप करते हैं और चौथे समय में अपने आत्म प्रदेशों से लोक को पूर देते हैं। पाँचवें समय में लोकपूरण से प्रतररूप, छठे में प्रतर से कपाट रूप और सातवें में कपाट से दण्ड रूप करते हैं आठवें समय में बाहर निकले हुए आत्मप्रदेश फिर शरीर में प्रविष्ट होकर ज्यों के त्यों हो जाते हैं। इस तरह चार समय में प्रदेशों का विस्तार और चार समय में प्रदेशों का संकोच करने से शेष तीन कर्मों की स्थिति भी आयु के समान अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है। उस समय वे सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति नाम का तीसरा शुक्लध्यान करते हैं। इसके बाद समुच्छिन्न क्रियानिवर्ति नाम का चौथा शुक्लध्यान करते हैं। इस ध्यान के समय श्वासोच्छ्वास का संचार, समस्त मनोयोग, वचनयोग, काय योग और समस्त प्रदेशों का हलन-चलन आदि क्रिया रुक जाती है। इसीलिए इसे समुच्छिन्नक्रिया-निवर्ति कहते हैं। इसके होने पर समस्त बन्ध और आस्रव रुक जाता है और समस्त बचे हुए कर्मों को नष्ट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अतः मोक्ष के साक्षात् कारण यथाख्यात चारित्र, दर्शन और ज्ञान पूर्ण हो जाते हैं। तब वह अयोग केवली समस्त कर्मों को ध्यान रूपी अग्नि से जलाकर किट्टकालिमा से रहित शुद्ध सुवर्ण की तरह निर्मल आत्म रूप होकर निर्वाण को प्राप्त करते हैं। इस तरह दोनों प्रकार के तप नवीन कर्मों के आस्रव को रोकने के कारण संवर का भी कारण है और पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करने का कारण होने से

निर्जरा का भी कारण है।

आगे बतलाते हैं कि सब सम्यग्दृष्टियों के समान निर्जरा नहीं होती—

सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्तवियोजक-
दर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपक-क्षीणमोह-जिनाः
क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥४५॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि, पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक, महाव्रती मुनि, अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करने वाले, दर्शन मोह का क्षय करने वाले, चारित्र मोह का उपशम करने वाले, उपशान्तमोह यानि ग्यारहवें गुणस्थान वाले, क्षपक श्रेणी में चढ़ने वाले, क्षीणमोह यानि बारहवें गुणस्थान वाले और जिन भगवान् के परिणामों की विशुद्धता अधिक-अधिक होने से प्रतिसमय क्रम से असंख्यात गुणी-असंख्यात गुणी निर्जरा होती है।

विशेषार्थ—जब मिथ्यादृष्टि जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करने के लिए तीन करण करता है, उस समय उसके आयुकर्म के सिवा शेष सात कर्मों की बहुत निर्जरा होती है। वह जब सम्यग्दृष्टि हो जाता है तो उसके पहले से भी असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। वह जब श्रावक हो जाता है तो उसके सम्यग्दृष्टि से भी असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। श्रावक से जब वह सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनि हो जाता है तो उसके श्रावक से भी असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। जब वह मुनि होकर अनन्तानुबन्धी कषाय को शेष कषाय रूप परिणमा कर उसका विसंयोजन करता है तो उसके मुनि से भी असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। उसके बाद वह जब दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय करता है तो उसके विसंयोजन काल से भी असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। जब वह उपशम श्रेणी चढ़ता है तो उसके दर्शन मोह क्षपक से भी असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। उसके बाद वह समस्त मोहनीय कर्म का उपशम करके उपशान्त कषाय गुणस्थान वाला हो जाता है तो उसके उपशम अवस्था से भी असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। वही जीव जब उपशम श्रेणी से गिरने के बाद क्षपक श्रेणी पर चढ़ता है तो उसके ग्यारहवें गुणस्थान से भी असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। वही

जब समस्त मोहनीय कर्म का क्षय करके क्षीणकषाय हो जाता है तो उसके क्षपक अवस्था से भी असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। वही जब समस्त घातिया कर्मों को नष्ट करके केवली हो जाता है तो उसके क्षीणकषाय से भी असंख्यात गुणी निर्जरा होती है।

सारांश यह है कि इन दस स्थानों को प्राप्त होने वाले जीवों के परिणाम उत्तरोत्तर अधिक-अधिक विशुद्ध होते हैं, अतः इनके कर्मों की निर्जरा भी असंख्यात गुणी होती है। इतना ही नहीं, जहाँ उत्तरोत्तर निर्जरा असंख्यात गुणी असंख्यात गुणी हो जाती है, वहाँ निर्जरा का काल असंख्यातवें भाग असंख्यातवें भाग घटता जाता है। जैसे जिनेन्द्र भगवान् के निर्जरा काल सबसे कम है, उससे संख्यात गुणा काल क्षीणकषाय का है। इस तरह यद्यपि निर्जरा का काल सातिशय मिथ्यादृष्टि तक अधिक अधिक होता है, किन्तु सामान्य से प्रत्येक का निर्जरा काल अन्तर्मुहूर्त ही है। इस उत्तरोत्तर कम कम काल में कर्मों की निर्जरा उत्तरोत्तर अधिक अधिक होती है।

अब निर्ग्रन्थों के भेद कहते हैं—

पुलाक-बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका निर्ग्रन्थाः ॥४६॥

अर्थ—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाँचों निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं।

जिनके उत्तरगुणों की तो भावना भी न हो और मूलगुणों में भी कभी-कभी दोष लगा लेते हों, उन साधुओं को पुलाक कहते हैं। पुलाक नाम पुवाल सहित चावल का है। पुवाल सहित चावल की तरह मलिन होने से ऐसे साधु को पुलाक कहते हैं। जो बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करने के लिए सदा तत्पर हों और जिनके मूलगुण निर्दोष हों; किन्तु शरीर, पिच्छिका वगैरह उपकरणों से जिन्हें मोह हो, उन मुनि को बकुश मुनि कहते हैं। बकुश का अर्थ चितकबरा है। जैसे सफेद पर काले धब्बे होते हैं, वैसे ही उन मुनियों के निर्मल आचार में शरीर आदि का मोह धब्बे की तरह होता है। इसी से वे बकुश कहे जाते हैं। कुशील साधु के दो भेद

हैं– प्रतिसेवना–कुशील और कषाय–कुशील। जिनके मूलगुण और उत्तर गुण दोनों ही पूर्ण हों किन्तु कभी–कभी उत्तर गुणों में दोष लग जाता हो उन साधुओं को प्रतिसेवना कुशील कहते हैं। जिन्होंने अन्य कषायों के उदय को तो वश में कर लिया है किन्तु संज्वलन कषाय के उदय को वश में नहीं किया है, उन साधुओं को कषाय–कुशील कहते हैं। जिनके मोहनीय कर्म का तो उदय ही नहीं है और शेष घाति कर्मों का उदय भी ऐसा है जैसे जल में लाठी से खींची हुई लकीर तथा अन्तर्मुहूर्त के बाद ही, जिन्हें केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रकट होने वाला है, उन्हें निर्ग्रन्थ कहते हैं। जिनके घाति कर्म नष्ट हो गये हैं, उन केवलियों को स्नातक कहते हैं। ये पाँचों ही सम्यग्दृष्टि होते हैं और बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह के त्यागी होते हैं। इसलिए चारित्र की हीनाधिकता होने पर भी इन पाँचों को ही निर्ग्रन्थ कहा है।

इन पुलाक आदि मुनियों की और भी विशेषता बतलाते हैं—

संयम–श्रुत–प्रतिसेवना–तीर्थ–लिङ्ग–लेश्योपपाद–स्थान–विकल्पतः साध्याः ॥४७॥

अर्थ—संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और स्थान के भेद से पुलाक आदि मुनियों के भेद जानना चाहिए।

विशेषार्थ—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना–कुशील मुनि के सामायिक और छेदोपस्थापना संयम होता है। कषाय कुशील मुनि के सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि और सूक्ष्म साम्पराय संयम होता है। निर्ग्रन्थ और स्नातक के एक यथाख्यात संयम ही होता है। पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि अधिक से अधिक पूरे दस पूर्व के ज्ञाता होते हैं। कषाय–कुशील और निर्ग्रन्थ चौदह पूर्वों के ज्ञाता होते हैं और कम से कम पुलाक मुनि आचारांग के ज्ञाता होते हैं; बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थ पाँच समिति और तीन गुप्तियों के ज्ञाता होते हैं। स्नातक तो केवलज्ञानी होते हैं, अतः उनके श्रुताभ्यास का प्रश्न ही नहीं है। प्रतिसेवना का मतलब व्रतों में दोष लगाना है। पुलाक मुनि पाँच महाव्रतों में तथा

रात्रि में भोजन त्याग व्रत में से किसी एक में परवश होकर कभी कदाचित् दोष लगा लेते हैं। बकुश मुनि के दो भेद हैं–उपकरण–बकुश और शरीर–बकुश। उपकरण बकुश मुनि को सुन्दर उपकरणों में आसक्ति रहने से विराधना होती है। और शरीर बकुश मुनि की अपने शरीर में आसक्ति होने से विराधना होती है। प्रतिसेवना कुशील मुनि उत्तर गुणों में कभी कदाचित् दोष लगा लेते हैं। कषाय–कुशील निर्ग्रन्थ और स्नातक के प्रतिसेवना नहीं होती; क्योंकि त्यागी हुई वस्तु का सेवन करने से प्रतिसेवना होती है। सो ये करते नहीं हैं। तीर्थ यानि सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में पाँचों प्रकार के निर्ग्रन्थ पाये जाते हैं। लिंग के दो भेद हैं–द्रव्यलिंग और भावलिंग। भावलिंग की अपेक्षा तो पाँचों ही निर्ग्रन्थ भावलिंगी हैं–क्योंकि सभी सम्यग्दृष्टि और संयमी होते हैं। द्रव्यलिंग की अपेक्षा सभी निर्ग्रन्थ दिगम्बर होते हुए भी स्नातक के पिच्छिका–कमण्डलु उपकरण नहीं होते, शेष के होते हैं। अतः द्रव्य लिंग में थोड़ा अन्तर पड़ जाता है। पुलाक के तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशील के छह लेश्याएँ भी होती हैं, क्योंकि उपकरणों में आसक्ति होने से कभी अशुभ लेश्याएँ भी हो सकती हैं। कषाय कुशील के कृष्ण और नील के सिवा बाकी की चार लेश्याएँ होती हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक के एक शुक्ल लेश्या ही होती है। अयोग केवली के लेश्या नहीं होती। उपपाद–पुलाक मुनि अधिक से अधिक सहस्रार स्वर्ग में उत्कृष्ट स्थिति के धारक देव होते हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशील बाईस सागर की स्थिति वाले आरण और अच्युत स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। कषाय कुशील और ग्यारहवें गुणस्थान वाले निर्ग्रन्थ तैंतीस सागर की स्थिति वाले सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न होते हैं। इन सबकी उत्पत्ति कम से कम सौधर्म कल्प में होती है। और स्नातक तो मोक्ष जाता है। इसी तरह संयम के स्थानों की अपेक्षा भी इनमें अन्तर होता है ॥४७॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे नवमोऽध्यायः ॥९॥

अथ दशमोऽध्यायः

अब अन्तिम तत्त्व मोक्ष का कथन किया जाता है क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति केवलज्ञान पूर्वक होती है, अतः पहले केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण बतलाते हैं—

मोहक्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तराय-क्षयाच्च केवलम् ॥१॥

अर्थ—मोहनीय कर्म के क्षय से फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का एक साथ क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट होता है। सारांश यह है कि पहले मोहनीय कर्म का क्षय करके अन्तर्मुहूर्त तक क्षीणकषाय नाम के गुणस्थान में जीव रहता है। फिर उसके अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म को एक साथ नष्ट करके केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है। इसी से 'मोहक्षयात्' पद अलग लिखा है।

अब मोक्ष का लक्षण और मोक्ष के कारण बतलाते हैं—

बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म-विप्रमोक्षो मोक्षः ॥२॥

अर्थ—बन्ध के कारणों का अभाव होने से तथा निर्जरा से समस्त कर्मों का अत्यन्त अभाव हो जाना मोक्ष है।

विशेषार्थ—मिथ्यादर्शन आदि कारणों का अभाव हो जाने से नये कर्मों का बन्ध होना रुक जाता है और तप वगैरह के द्वारा पहले बंधे हुए कर्मों की निर्जरा हो जाती है। अतः आत्मा समस्त कर्मबन्धनों से छूट जाता है। इसी का नाम मोक्ष है। सो कर्म का अभाव दो प्रकार से होता है। कुछ कर्म तो ऐसे हैं, जिनका अभाव चरम शरीरी के स्वयं हो जाता है। जैसे नरकायु, तिर्यञ्चायु और देवायु का सत्त्व चरम शरीरी के नहीं होता, अतः इन तीनों प्रकृतियों का अभाव तो बिना यत्न के ही रहता है। शेष के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। सो चौथे पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में से किसी एक गुणस्थान में मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियों का क्षय करके जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। उसके बाद क्षपक श्रेणी पर चढ़कर

नौवें गुणस्थान में क्रम से १६+८+१+१+६+ १+१+१+१=३६ (छत्तीस) प्रकृतियों को नष्ट करके दसवें गुणस्थान में आ जाता है। वहाँ सूक्ष्म लोभ संज्वलन को नष्ट करके बारहवें गुणस्थान में जा पहुँचता है। बारहवें में ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की ६ और अन्तराय की ५ प्रकृतियों को नष्ट करके केवली हो जाता है। इस तरह उसके ३+७+३६+१+१६=६३ (तिरेसठ) प्रकृतियों का अभाव हो जाता है जिनमें ४७ घाति कर्मों की और १६ अघाति कर्मों की प्रकृतियाँ हैं। शेष ८५ प्रकृतियाँ रहती है, जिनमें से ७२ प्रकृतियों का विनाश तो अयोग केवली नामक चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय में करता है। १३ का विनाश उसी के अन्तिम समय में करके मुक्त हो जाता है ॥२॥

अब प्रश्न यह है कि पौद्गलिक द्रव्य कर्मों के नाश से ही मोक्ष होता है या भाव कर्मों के नाश से भी? इसका उत्तर देते हैं—

औपशमिकादि-भव्यत्वानां च॥३॥

अर्थ—जीव के औपशमिक आदि भाव तथा पारिणामिक भावों में से भव्यत्व भाव के अभाव से मोक्ष होता है। आशय यह है कि औपशमिक भाव, क्षायोपशमिक भाव, औदयिक भाव तो पूरे नष्ट हो जाते हैं और पारिणामिक भावों में से अभव्यत्व भाव तो मोक्षगामी जीव के पहले से ही नहीं होता, जीवत्व नाम का पारिणामिक भाव मुक्तावस्था में भी रहता है। अत: केवल भव्यत्व का अभाव हो जाता है।

क्षायिक भाव शेष रहते हैं, सो ही कहते हैं—

अन्यत्र केवल-सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥४॥

अर्थ—क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व को छोड़कर अन्य भावों का मुक्त जीव के अभाव हो जाता है।

[**शंका—**यदि मुक्त जीव के ये चार ही क्षायिक भाव शेष रहते हैं, तो अनन्त वीर्य, अनन्त सुख आदि भावों का भी अभाव कहलाया ?

समाधान—नहीं कहलाया, क्योंकि अनन्त वीर्य आदि भाव अनन्त

ज्ञान और अनन्त दर्शन के अविनाभावी हैं। अर्थात् अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन के साथ ही अनन्त वीर्य होता है। जहाँ अनन्त वीर्य नहीं होता, वहाँ अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन भी नहीं होते। रहा अनन्त सुख, सो वह अनन्त ज्ञानमय ही है; क्योंकि बिना ज्ञान के सुख का अनुभव नहीं होता।

शंका—मुक्त जीवों का कोई आकार नहीं है, अतः उनका अभाव ही समझना चाहिए; क्योंकि जिस वस्तु का आकार नहीं है वह वस्तु नहीं?

समाधान—जिस शरीर से जीव मुक्त होता है, उस शरीर का जैसा आकार होता है, वैसा ही मुक्त जीव का आकार रहता है।

शंका—यदि जीव का आकार शरीर के आकार के अनुसार ही होता है, तो शरीर का अभाव हो जाने पर जीव को समस्त लोकाकाश में फैल जाना चाहिए; क्योंकि उसका स्वाभाविक परिमाण तो लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर बतलाया है?

समाधान—यह आपत्ति ठीक नहीं है; क्योंकि आत्मा के प्रदेशों में संकोच और विस्तार का कारण नामकर्म था। नामकर्म के कारण जैसा शरीर मिलता था उसी के अनुसार आत्म प्रदेशों में संकोच और विस्तार होता था। मुक्त होने पर नाम कर्म का अभाव हो जाने से संकोच और विस्तार का भी अभाव हो गया]।

शंका—यदि कारण का अभाव होने से मुक्त जीव में संकोच विस्तार नहीं होता तो गमन का भी कोई कारण न होने से ; जैसे मुक्त जीव नीचे को नहीं जाता या तिरछा नहीं जाता, वैसे ही ऊपर को भी उसे नहीं जाना चाहिए, बल्कि जहाँ मुक्त हुआ है, वहीं सदा उसे रहना चाहिए?

इसका समाधान करने के लिए आगे के सूत्र कहते हैं—

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥५॥

अर्थ—समस्त कर्मों से छूटने के बाद ही जीव लोक के अन्त तक ऊपर को जाता है।

अब ऊपर की जाने का कारण बतलाते हैं—

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥६॥

अर्थ—पहले के संस्कार से, कर्म के भार से हल्का हो जाने से, कर्म बन्धन के कट जाने से और ऊपर को जाने का स्वभाव होने से मुक्त जीव ऊपर को ही जाता है।

इसमें दृष्टान्त देते हैं—

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्ड-बीजवदग्निशिखावच्च ॥७॥

अर्थ—ऊपर के सूत्र में कहे हुए हेतुओं को और इस सूत्र में कहे गये दृष्टान्तों को क्रम से लगाना चाहिए। जो इस प्रकार हैं—जैसे कुम्हार हाथ में डण्डा लेकर और उसे चाक पर रख कर घुमाता है तो चाक घूमने लगता है। उसके बाद कुम्हार डण्डे को हटा लेता है फिर भी चाक जब तक उसमें पुराना संस्कार रहता है, घूमता है। इसी तरह संसारी जीव मुक्ति की प्राप्ति के लिए बार-बार प्रयत्न करता था कि कब मुक्ति गमन हो। मुक्त हो जाने पर वह भावना और प्रयत्न नहीं रहा फिर भी पुराने संस्कारवश जीव मुक्ति की ओर गमन करता है।

जैसे मिट्टी के भार से लदी हुई तुम्बी जल में डूबी रहती है। किन्तु मिट्टी का भार दूर होते ही जल के ऊपर आ जाती है। वैसे ही कर्म के भार से लदा हुआ जीव कर्म के वश होकर संसार में डूबा रहता है। किन्तु ज्यों ही उस भार से मुक्त होता है तो ऊपर को ही जाता है।

जैसे एरण्ड के बीज एरण्ड के ढोडा में बन्द रहते हैं। और ढोडा सूखकर फटता है तो उछलकर ऊपर को ही जाते हैं। वैसे ही मनुष्य आदि भवों में ले जाने वाले गति नाम, जाति नाम आदि समस्त कर्मबन्ध के कट जाने पर आत्मा ऊपर को ही जाता है।

जैसे वायु के न होने पर दीपक की लौ ऊपर को ही जाती है, वैसे ही मुक्त जीव भी अनेक गतियों में ले जाने वाले कर्मों के अभाव में ऊपर को ही जाता है; क्योंकि जैसे आग का स्वभाव ऊपर की जाने का है, वैसे ही

जीव का स्वभाव भी ऊर्ध्वगमन ही है।

अब प्रश्न यह होता है कि जब जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है तो फिर मुक्त जीव लोक के अन्त तक ही क्यों जाता है? आगे क्यों नहीं जाता?

इस प्रश्न का समाधान करते हैं—

धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥

अर्थ—गतिरूप उपकार करने वाला धर्मास्तिकाय द्रव्य लोक के अन्त तक ही है, आगे नहीं है। अतः मुक्त जीव लोक के अन्त तक ही जाकर ठहर जाता है, आगे नहीं जाता।

अब मुक्त जीवों में परस्पर में भेदव्यवहार का कारण बतलाते हैं—

क्षेत्र-काल-गति-लिङ्ग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येकबुद्ध-बोधित-ज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्प-बहुत्वतः साध्याः ॥९॥

अर्थ—क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध, बोधितज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व—इन बारह अनुयोगों के द्वारा सिद्धों में भेद का विचार करना चाहिए।

विशेषार्थ—प्रत्युत्पन्न नय और भूतप्रज्ञापन नय की विवक्षा से बारह अनुयोगों का विवेचन किया जाता है। जो नय केवल वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है अथवा यथार्थ वस्तुस्वरूप को ग्रहण करता है, उसे प्रत्युत्पन्न नय कहते हैं। जैसे ऋजुसूत्र नय या निश्चय नय। और जो नय अतीत पर्याय को ग्रहण करता है, उसे भूतप्रज्ञापन नय कहते हैं। जैसे व्यवहार नय।

क्षेत्र में इस बात का विचार किया जाता है कि मुक्त जीव की मुक्ति किस क्षेत्र से हुई। प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा से सिद्ध क्षेत्र में, अपने आत्मप्रदेशों में अथवा जिस आकाश प्रदेशों में मुक्त होने वाला जीव मुक्ति से पूर्व स्थित था, उन आकाशप्रदेशों में मुक्ति होती है। भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियों में से किसी भी कर्मभूमि के मनुष्य को यदि कोई हर कर ले जाये तो समस्त मनुष्य लोक के किसी भी स्थान से उसकी मुक्ति हो सकती है।

काल की अपेक्षा यह विचार किया जाता है कि किस काल में मुक्त हुई–सो प्रत्युपन्न नय की अपेक्षा तो एक समय में ही मुक्ति होती है। और भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा सामान्य से तो उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों ही कालों में मुक्ति होती है। विशेष से अवसर्पिणी काल के सुखमा–दुखमा नामक तीसरे काल के अन्त में जन्मे जीव और दुषमा–सुषमा नामक चौथे काल में जन्में जीव मोक्ष जाते हैं।

गति में यह विचार किया जाता है कि किस गति से मुक्ति हुई? सो प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा तो सिद्धगति में ही मुक्ति मिलती है और भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा मनुष्य गति से ही मुक्ति मिलती है।

लिंग में विचार किया जाता है कि किस लिंग से मुक्ति हुई ? सो प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा तो वेद रहित अवस्था में ही मुक्ति होती है। भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा तीनों ही भाव वेदों से मुक्ति होती है। किन्तु द्रव्य से पुल्लिंग ही होना चाहिए। अथवा प्रत्युत्पन्ननय से निर्ग्रन्थ लिंग से ही मुक्ति मिलती है और भूतप्रज्ञापन नय से सग्रंथ लिंग से भी मुक्ति होती है।

तीर्थ का विचार करते हैं– कोई तो तीर्थंकर होकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। कोई सामान्य केवली होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। उनमें भी कोई तो तीर्थंकर के विद्यमान रहते हुए मोक्ष जाते हैं, कोई तीर्थंकर के अभाव में मोक्ष जाते हैं।

चारित्र में विचार करते हैं कि किस चारित्र से मुक्ति मिलती है? प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा तो जिस भाव से मुक्ति होती है, उस भाव को न तो चारित्र ही कहा जा सकता है और न अचारित्र ही कहा जा सकता है। और भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा अव्यवहित रूप से तो यथाख्यात चारित्र से मोक्ष प्राप्त होता है और व्यवहित रूप से सामायिक, छेदोपस्थापना, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्र से मोक्ष प्राप्त होता है और जिनके परिहार विशुद्धि चारित्र भी होता है, उनको पाँचों ही चारित्रों से मोक्ष प्राप्त होता है।

जो अपनी शक्ति से ही ज्ञान प्राप्त करते हैं। उन्हें प्रत्येकबुद्ध कहते हैं और जो पर के उपदेश से ज्ञान प्राप्त करते हैं, उन्हें बोधितबुद्ध कहते हैं। सो कोई प्रत्येकबुद्ध होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं और कोई बोधितबुद्ध होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। किस ज्ञान से मुक्ति होती है? प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा तो केवलज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है और भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा किन्हीं को मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पूर्वक केवलज्ञान होता है और किन्हीं की मति, श्रुत और अवधिज्ञानपूर्वक केवलज्ञान होता है। किन्हीं को मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञानपूर्वक केवलज्ञान होता है, तब मोक्ष जाते हैं।

आत्मप्रदेशों के फैलाव का नाम अवगाहना है। उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ पच्चीस धनुष होती है और जघन्य अवगाहना कुछ कम साढ़े तीन हाथ होती है। मध्यम अवगाहना के बहुत से भेद हैं। भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा से इन अवगाहनाओं में से किसी एक अवगाहना से मुक्ति प्राप्त होती है। और प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा इससे कुछ कम अवगाहना से मुक्ति होती है; क्योंकि मुक्त जीव की अवगाहना उसके अन्तिम शरीर से कुछ कम होती है।

अन्तर पर विचार करते हैं कि–मुक्ति प्राप्त करने वाले जीव लगातार भी मुक्ति प्राप्त करते हैं और बीच–बीच में अन्तर दे देकर भी मुक्ति प्राप्त करते हैं। यदि जीव लगातार मोक्ष जायें तो कम से कम दो समय तक और अधिक से अधिक आठ समय तक मुक्त होते रहते हैं। इसके बाद अन्तर पड़ जाता है। सो यदि कोई भी जीव मुक्त न हो तो कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह माह का अंतर पड़ता है।

संख्या पर विचार करते हैं कि–एक समय में कम से कम एक जीव मुक्त होता है और अधिक से अधिक १०८ जीव मुक्त होते हैं।

क्षेत्र आदि की अपेक्षा से जुदे जुदे मुक्त जीवों की संख्या को लेकर परस्पर में तुलना करना अल्प–बहुत्व है। सो बतलाते हैं–प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा से सब जीव सिद्धक्षेत्र से ही मुक्ति प्राप्त करते हैं, अतः अल्पबहुत्व

नहीं है। भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा जो किसी के द्वारा हरे जाकर मुक्त हुए, ऐसे जीव थोड़े हैं। उनसे संख्यात गुणे जन्म सिद्ध हैं। तथा ऊर्ध्व लोक से मुक्त हुए जीव थोड़े हैं। उनसे असंख्यात गुणे जीव अधोलोक से मुक्त हुए हैं और उनसे भी असंख्यात गुणे जीव मध्यलोक से मुक्त हुए हैं। तथा समुद्र से मुक्त हुए जीव सबसे कम हैं। उनसे संख्यात गुणे जीव द्वीप से मुक्त हुए हैं। यह तो हुआ सामान्य कथन।

विशेष कथन की अपेक्षा लवण समुद्र से मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। उनसे संख्यात गुणे जीव कालोदधि समुद्र से मुक्त हुए हैं। उनसे संख्यात गुणे जम्बूद्वीप से मुक्त हुए हैं। उनसे संख्यात गुणे धातकीखण्ड से मुक्त हुए हैं। उनसे संख्यात गुणे पुष्करार्ध से मुक्त हुए हैं। यह क्षेत्र की अपेक्षा अल्पबहुत्व हुआ। काल की अपेक्षा उत्सर्पिणी काल में मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। अवसर्पिणी काल में मुक्त हुए जीव उनसे अधिक हैं। और बिना उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल में मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुणे हैं; क्योंकि पाँचों महाविदेहों में न उत्सर्पिणी काल है और न ही अवसर्पिणी काल है। फिर भी वहाँ से जीव सदा मुक्त होते हैं। प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा एक समय में ही मुक्ति होती है, अतः अल्पबहुत्व नहीं है। गति की अपेक्षा प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा तो अल्पबहुत्व नहीं है! भूतप्रज्ञापन नय से तिर्यञ्च गति से आकर मनुष्य हो, मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। मनुष्य गति से आकर मनुष्य हो मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुणे हैं। नरक गति से आकर मनुष्य हो मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुणे हैं और देवगति से आकर मनुष्य हो मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुणे हैं।

वेद की अपेक्षा विचार करते हैं कि–प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा तो वेद रहित जीव ही मुक्ति प्राप्त करते हैं। अतः अल्पबहुत्व नहीं है। भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा नपुंसक लिंग से श्रेणी चढ़कर मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। स्त्रीवेद से श्रेणी चढ़कर मुक्त हुए जीव संख्यात गुणे हैं। और पुरुषवेद के उदय से श्रेणी चढ़कर मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुणे हैं। तीर्थ की अपेक्षा–तीर्थंकर होकर मुक्त हुए जीव थोड़े हैं। सामान्य केवली होकर मुक्त

हुए जीव उनसे संख्यात गुणे हैं। चारित्र की अपेक्षा–प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा तो अल्पबहुत्व नहीं है। भूतग्राही नय की अपेक्षा भी अव्यवहित चारित्र सबके यथाख्यात ही होता है, अतः अल्पबहुत्व नहीं है। अन्तर सहित चारित्र की अपेक्षा पाँचों चारित्र धारण करके मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं और चार चारित्र धारण करके मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुणे हैं। प्रत्येकबुद्ध थोड़े होते हैं। बोधितबुद्ध उनसे संख्यात गुणे हैं। ज्ञान की अपेक्षा प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा सब जीव केवलज्ञान प्राप्त करके ही मुक्त होते हैं, अतः अल्पबहुत्व नहीं है। भूतग्राही नय की अपेक्षा दो ज्ञान से मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। चार ज्ञान से मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुणे हैं। विशेष कथन की अपेक्षा मति, श्रुत और मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। मति, श्रुत ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुणे हैं। मति, श्रुति, अवधि और मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुणे हैं और मति, श्रुत और अवधि ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुणे हैं। अवगाहना अपेक्षा से जघन्य अवगाहना से मुक्त हुए जीव थोड़े हैं। उत्कृष्ट अवगाहना से मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुणे हैं और मध्यम अवगाहना से मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुणे हैं। संख्या अपेक्षा से एक समय में एक सौ आठ की संख्या में मुक्त हुए जीव थोड़े हैं, एक समय में एक सौ सात से लेकर पचास तक की संख्या में मुक्त हुए जीव उनसे अनन्त गुणे हैं। एक समय में उनचास से लेकर पच्चीस तक की संख्या में मुक्त हुए जीव असंख्यात गुणे हैं। एक समय में चौबीस से लेकर एक तक की संख्या में मुक्त हुए जीव संख्यात गुने हैं। इस प्रकार मुक्त हुए जीवों में वर्तमान की अपेक्षा तो कोई भेद नहीं है। जो भेद है वह भूतपर्याय की अपेक्षा ही है।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे दशमोऽध्यायः ॥१०॥

मूलपाठ

अथ प्रथमोऽध्यायः

मंगलाचरण

मोक्ष-मार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्म-भूभृताम्।
ज्ञातारं विश्व-तत्त्वानां वन्दे तद्गुण-लब्धये॥

१. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

२. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।

३. तन्निसर्गादधिगमाद्वा।

४. जीवाजीवास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम्।

५. नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्न्यासः।

६. प्रमाणनयैरधिगमः।

७. निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थिति-विधानतः।

८. सत्संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्पबहुत्वैश्च।

९. मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानि ज्ञानम्।

१०. तत्प्रमाणे।

११. आद्ये परोक्षम्।

१२. प्रत्यक्षमन्यत्।

१३. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।

१४. तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।

१५. अवग्रहेहावायधारणाः।

१६. बहु-बहुविध-क्षिप्रानिःसृतानुक्त-ध्रुवाणां सेतराणाम्।

१७. अर्थस्य।

१८. व्यञ्जनस्यावग्रहः।

१९. न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्।

२०. श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेक-द्वादशभेदम्।

२१. भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्।

२२. क्षयोपशम-निमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्।

२३. ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः।

२४. विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः।

२५. विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्योऽवधि-मनःपर्यययोः।

२६. मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्व-पर्यायेषु।

२७. रूपिष्ववधेः।

२८. तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य।

२९. सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।

३०. एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः।

३१. मति-श्रुतावधयो विपर्ययश्च।

३२. सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्।

३३. नैगम-संग्रह-व्यवहारर्जुसूत्र-शब्द-समभिरूढैवंभूता नयाः।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

१. औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक-पारिणामिकौ च।

२. द्विनवाष्टादशैक-विंशति-त्रिभेदा यथाक्रमम्।

३. सम्यक्त्व-चारित्रे।

४. ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणि च।

५. ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्व-चारित्र-संयमासंयमाश्च।

६. गति-कषाय-लिङ्ग-मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयता-सिद्ध-लेश्या-श्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः।

७. जीवभव्याभव्यत्वानि च।

८. उपयोगो लक्षणम्।

९. स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।

१०. संसारिणो मुक्ताश्च।

११. समनस्कामनस्काः ।

१२. संसारिणस्त्रसस्थावराः।

१३. पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः।

१४. द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः।

१५. पञ्चेन्द्रियाणि।

१६. द्विविधानि।

१७. निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्।

१८. लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्।

१९. स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुःश्रोत्राणि।

२०. स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास्तदर्थाः।

२१. श्रुतमनिन्द्रियस्य।

२२. वनस्पत्यन्तानामेकम्।

२३. कृमिपिपीलिका-भ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि।

२४. संज्ञिनः समनस्काः।

२५. विग्रहगतौ कर्मयोगः।

२६. अनुश्रेणि गतिः।

२७. अविग्रहा जीवस्य।

२८. विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः।

२९. एक समयाविग्रहा।

३०. एकं द्वौ त्रीन् वाऽनाहारकः।

३१. सम्मूर्च्छन-गर्भोपपादा जन्म।

३२. सचित्त-शीत-संवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः।

३३. जरायुजाण्डज-पोतानां गर्भः।

३४. देवनारकाणामुपपादः।

३५. शेषाणां सम्मूर्छनम्।

३६. औदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजस-कार्मणानि शरीराणि।

३७. परं परं सूक्ष्मम्।

३८. प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात्।

३९. अनन्तगुणे परे।

४०. अप्रतिघाते।

४१. अनादिसम्बन्धे च।

४२. सर्वस्य।

४३. तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याचतुर्भ्यः।

४४. निरुपभोगमन्त्यम्।

४५. गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम्।

४६. औपपादिकं वैक्रियिकम्।

४७. लब्धिप्रत्ययं च।

४८. तैजसमपि।

४९. शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव।

५०. नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि।

५१. न देवाः।

५२. शेषास्त्रिवेदाः।

५३. औपपादिक-चरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।

अथ तृतीयोऽध्यायः

१. रत्न-शर्करा-बालुका-पङ्क-धूम-तमो-महातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाश-प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः।

२. तासु त्रिंशत्-पञ्चविंशति-पञ्चदश-दश-त्रि-पञ्चोनैक-नरक-

शत-सहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम्।

३. नारका नित्याशुभतर-लेश्या-परिणाम-देह-वेदना-विक्रियाः।

४. परस्परोदीरित-दुःखाः।

५. संक्लिष्टासुरोदीरित-दुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः।

६. तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्-सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः।

७. जम्बूद्वीप-लवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः।

८. द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्व-पूर्व-परिक्षेपिणो वलयाकृतयः।

९. तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजन-शतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः।

१०. भरत-हैमवत-हरि-विदेह-रम्यक-हैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि।

११. तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्-महाहिमवन्-निषध-नील-रुक्मि-शिखरिणो वर्षधरपर्वताः।

१२. हेमार्जुन-तपनीय-वैडूर्य-रजत-हेममयाः।

१३. मणि-विचित्र-पार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः।

१४. पद्म-महापद्म-तिगिञ्छ-केसरि-महापुण्डरीक-पुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि।

१५. प्रथमो योजन-सहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः।

१६. दशयोजनावगाहः।

१७. तन्मध्ये योजनं पुष्करम्।

१८. तद्-द्विगुण-द्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च।

१९. तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः।

२०. गङ्गासिन्धु-रोहिद्रोहितास्या-हरिद्धरिकान्ता-सीतासीतोदा-नारी-नरकान्ता-सुवर्णरूप्यकूला-रक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः।

२१. द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः।

२२. शेषास्त्वपरगाः।

२३. चतुर्दशनदी-सहस्र-परिवृता गङ्गा-सिन्ध्वादयो नद्यः।

२४. भरतः षड्विंशति-पञ्चयोजन-शत-विस्तारः षट्-चैकोन-विंशतिभागा योजनस्य।

२५. तद्द्विगुण-द्विगुण-विस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः।

२६. उत्तरा दक्षिण-तुल्याः।

२७. भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्।

२८. ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः।

२९. एक-द्वि-त्रि-पल्योपम-स्थितयो हैमवतक-हारि-वर्षक-दैवकुरवकाः।

३०. तथोत्तराः।

३१. विदेहेषु संख्येयकालाः।

३२. भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः।

३३. द्विर्धातकीखण्डे।

३४. पुष्करार्द्धे च।

३५. प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्याः।

३६. आर्या म्लेच्छाश्च।

३७. भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः।

३८. नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते।

३९. तिर्यग्योनिजानां च।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

१. देवाश्चतुर्णिकायाः।

२. आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः।

३. दशाष्ट-पञ्च-द्वादश-विकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः।

४. इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीक-प्रकीर्णका-

भियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः।

५. त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः।

६. पूर्वयोर्द्वीन्द्राः।

७. कायप्रवीचारा आ ऐशानात्।

८. शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनःप्रवीचाराः।

९. परेऽप्रवीचाराः।

१०. भवनवासिनोऽसुर-नाग-विद्युत्सुपर्णाग्निवात-स्तनितोदधि-द्वीप-दिक्कुमाराः।

११. व्यन्तराः किन्नर-किंपुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः।

१२. ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णक-तारकाश्च।

१३. मेरु प्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके।

१४. तत्कृतः कालविभागः।

१५. बहिरवस्थिताः।

१६. वैमानिकाः।

१७. कल्पोपन्नाः कल्पातीताश्च।

१८. उपर्युपरि।

१९. सौधर्मैशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-लान्तव-कापिष्ठ-शुक्र-महाशुक्र-शतार-सहस्रारेष्वानतप्राणतयो-रारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्त-जयन्ता-पराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च।

२०. स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्या-विशुद्धीन्द्रियावधि-विषयतोऽधिकाः।

२१. गति-शरीर-परिग्रहाभिमानतो हीनाः।

२२. पीत-पद्म-शुक्ल-लेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु।

२३. प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः।

२४. ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः।

२५. सारस्वता-दित्यवह्न्यरुण-गर्दतोय-तुषिताव्याबाधारिष्टाश्च।

२६. विजयादिषु द्विचरमाः।

२७. औपपादिक-मनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः।

२८. स्थितिरसुर-नाग-सुपर्ण-द्वीप-शेषाणां सागरोपम- त्रिपल्योपमार्ध-हीन-मिता।

२९. सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके।

३०. सानत्कुमार-माहेन्द्रयोः सप्त।

३१. त्रि-सप्त-नवैकादश-त्रयोदश-पञ्चदशभिरधिकानि तु।

३२. आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च।

३३. अपरा पल्योपममधिकम्।

३४. परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा।

३५. नारकाणां च द्वितीयादिषु।

३६. दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम्।

३७. भवनेषु च।

३८. व्यन्तराणां च।

३९. परा पल्योपममधिकम्।

४०. ज्योतिष्काणां च।

४१. तदष्टभागोऽपरा।

४२. लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्।

अथ पंचमोऽध्यायः

१. अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः।

२. द्रव्याणि।

३. जीवाश्च।

४. नित्यावस्थितान्यरूपाणि।

५. रूपिणः पुद्गलाः।

६. आ आकाशादेकद्रव्याणि।

७. निष्क्रियाणि च।

८. असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्।

९. आकाशस्यानन्ताः।

१०. संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम्।

११. नाणोः।

१२. लोकाकाशेऽवगाहः।

१३. धर्माधर्मयोः कृत्स्ने।

१४. एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम्।

१५. असंख्येयभागादिषु जीवानाम्।

१६. प्रदेश-संहार-विसर्पाभ्यां प्रदीपवत्।

१७. गति-स्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः।

१८. आकाशस्यावगाहः।

१९. शरीर-वाङ्-मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम्।

२०. सुख-दुःख-जीवित-मरणोपग्रहाश्च।

२१. परस्परोपग्रहो जीवानाम्।

२२. वर्तना-परिणाम-क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य।

२३. स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः।

२४. शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छाया तपोद्योत-वन्तश्च।

२५. अणवः स्कन्धाश्च।

२६. भेद-सङ्घातेभ्यः उत्पद्यन्ते।

१२७. भेदादणुः।
२८. भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषः।
२९. सद् द्रव्यलक्षणम्।
३०. उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्।
३१. तदभावाव्ययं नित्यम्।
३२. अर्पितानर्पितसिद्धेः।
३३. स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः।
३४. न जघन्यगुणानाम्।
३५. गुणसाम्ये सदृशानाम्।
३६. द्व्यधिकादिगुणानां तु।
३७. बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च।
३८. गुण-पर्ययवद् द्रव्यम्।
३९. कालश्च।
४०. सोऽनन्तसमयः।
४१. द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः।
४२. तद्भावः परिणामः।

अथ षष्ठोऽध्यायः

१. कायवाङ्मनःकर्म योगः।
२. स आस्रवः।
३. शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य।
४. सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः।
५. इन्द्रिय-कषायाव्रत-क्रियाः पञ्च-चतुः पञ्च-पञ्चविंशति-संख्याः पूर्वस्य भेदाः।
६. तीव्र-मन्द-ज्ञाताज्ञात-भावाधिकरण-वीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः।
७. अधिकरणं जीवाजीवाः।

८. आद्यं संरम्भ-समारम्भारम्भ-योग-कृत-कारितानुमत-कषाय-विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः।

९. निर्वर्तना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा द्विचतुर्द्वि-त्रि-भेदाः परम्।

१०. तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः।

११. दुःख-शोक-तापाक्रन्दन-वध-परिदेवनान्यात्म-परोभय-स्थानान्यसद्वेद्यस्य।

१२. भूतव्रत्यनुकम्पादान-सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य।

१३. केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य।

१४. कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य।

१५. बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः।

१६. माया तैर्यग्योनस्य।

१७. अल्पारम्भ-परिग्रहत्वं मानुषस्य।

१८. स्वभाव-मार्दवं च।

१९. निःशीलव्रतत्त्वं च सर्वेषाम्।

२०. सरागसंयम-संयमासंयमाकामनिर्जरा-बालतपांसि दैवस्य।

२१. सम्यक्त्वं च।

२२. योगवक्रता-विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः।

२३. तद्विपरीतं शुभस्य।

२४. दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग-संवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्य-करणमर्हदाचार्य-बहुश्रुत-प्रवचनभक्तिरावश्यका-परिहाणि-र्मार्गप्रभावना-प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य।

२५. परात्म-निन्दा-प्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य।

२६. तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य।

२७. विघ्नकरणमन्तरायस्य।

अथ सप्तमोऽध्यायः

१. हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥

२. देशसर्वतोऽणुमहती ॥२॥

३. तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥३॥

४. वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपान-भोजनानि पञ्च।

५. क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचि-भाषणं च पञ्च।

६. शून्यागारविमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्ष्यशुद्धि-सधर्मा-विसंवादाः पंच।

७. स्त्रीरागकथाश्रवण-तन्मनोहरांगनिरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्ट-रस-स्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च।

८. मनोज्ञा-मनोज्ञेन्द्रिय-विषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च।

९. हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम्।

१०. दुःखमेव वा।

११. मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिक-क्लिश्य-मानाविनेयेषु।

१२. जगत्काय-स्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्।

१३. प्रमत्तयोगात्प्राण-व्यपरोपणं हिंसा।

१४. असदभिधानमनृतम्।

१५. अदत्तादानं स्तेयम्।

१६. मैथुनमब्रह्म।

१७. मूर्छा परिग्रहः।

१८. निःशल्यो व्रती।

१९. अगार्यनगारश्च।

२०. अणुव्रतोऽगारी।

२१. दिग्देशानर्थदण्डविरति-सामायिक-प्रोषधोपवासोपभोग-परिभोग-परिमाणातिथि-संविभागव्रत-सम्पन्नश्च।

२२. मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता।

२३. शङ्का-काङ्क्षा-विचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरति-चाराः।

२४. व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम्।

२५. बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः।

२६. मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रिया-न्यासापहारसाकारमन्त्र-भेदाः।

२७. स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिक-मानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥२७॥

२८. परविवाह-करणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्ग-क्रीडा-कामतीव्राभिनिवेशाः।

२९. क्षेत्रवास्तु-हिरण्यसुवर्ण-धनधान्य-दासीदास-कुप्य-प्रमाणाति-क्रमाः।

३०. ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्-व्यतिक्रम-क्षेत्रवृद्धि-स्मृत्यन्तराधानानि।

३१. आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूपानुपात-पुद्गलक्षेपाः।

३२. कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोग-परिभोगा-नर्थक्यानि।

३३. योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि।

३४. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादान-संस्तरोपक्रमणानादर-स्मृत्यनु-पस्थानानि।

३५. सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुष्पक्वाहारः।
३६. सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः।
३७. जीवित-मरणाशंसा-मित्रानुराग-सुखानुबन्ध-निदानानि।
३८. अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्।
३९. विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र विशेषात्तद्विशेषः।

अथ अष्टमोऽध्यायः

१. मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः।
२. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।
३. प्रकृति-स्थित्यनुभव-प्रदेशास्तद्विधयः।
४. आद्योज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीयायुर्नाम-गोत्रान्तरायाः।
५. पञ्च-नव-द्व्यष्टाविंशति-चतु-र्द्विचत्वारिंशद्-द्वि-पञ्चभेदा यथाक्रमम्।
६. मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानाम्।
७. चक्षुरचक्षुरवधि-केवलानां निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धयश्च।
८. सदसद्वेद्ये।
९. दर्शन-चारित्रमोहनीयाकषाय-कषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्वि-नव-षोडशभेदाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयान्यकषाय-कषायौ हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुन्नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान-संज्वलन-विकल्पाश्चैकशः क्रोध-मान-माया-लोभाः।
१०. नारक-तैर्यग्योन-मानुष-दैवानि।
११. गति-जाति-शरीराङ्गोपाङ्ग-निर्माण-बन्धन-सङ्घात-संस्थान-संहनन-स्पर्शरसगन्ध-वर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपो-द्योतोच्छ्वास-विहायोगतयः प्रत्येकशरीर-त्रस-सुभग-सुस्वर-

शुभ-सूक्ष्मपर्याप्ति-स्थिरादेय-यशः कीर्ति-सेतराणि तीर्थकरत्वं च।

१२. उच्चैर्नीचैश्च।

१३. दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणाम्।

१४. आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम-कोटीकोट्यः परा स्थितिः।

१५. सप्ततिर्मोहनीयस्य।

१६. विंशतिर्नामगोत्रयोः।

१७. त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः।

१८. अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य।

१९. नामगोत्रयोरष्टौ।

२०. शेषाणामन्तर्मुहूर्ता।

२१. विपाकोऽनुभवः।

२२. स यथानाम।

२३. ततश्च निर्जरा।

२४. नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः।

२५. सद्वेद्य-शुभायुर्नाम-गोत्राणि पुण्यम्।

२६. अतोऽन्यत्पापम्।

अथ नवमोऽध्यायः

१. आस्रवनिरोधः संवरः।

२. स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजयचारित्रैः।

३. तपसा निर्जरा च।

४. सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः।

५. ईर्या-भाषैषणादान-निक्षेपोत्सर्गाः समितयः।

६. उत्तमक्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागा-किञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः ।

७. अनित्याशरण-संसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रव-संवर-निर्जरा-लोकबोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः।

८. मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।

९. क्षुत्पिपासा-शीतोष्ण-दंशमशक-नाग्न्यारति-स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्याक्रोश-वध-याचनाऽलाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कार-पुरस्कार-प्रज्ञाज्ञानादर्शनानि।

१०. सूक्ष्मसाम्परायच्छद्मस्थ-वीतरागयोश्चतुर्दश।

११. एकादश जिने।

१२. बादर-साम्पराये सर्वे।

१३. ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने।

१४. दर्शन-मोहान्तराययो-रदर्शनालाभौ।

१५ चारित्रमोहे नाग्न्यारति-स्त्री-निषद्याक्रोश-याचना-सत्कार-पुरस्काराः।

१६. वेदनीये शेषाः।

१७. एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः।

१८. सामायिकच्छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय यथाख्यातमिति चारित्रम्।

१९. अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्त-शय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः।

२०. प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग ध्यानान्युत्तरम्।

२१. नव-चतुर्दश-पञ्च-द्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात्।

२२. आलोचना-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तपश्छेद-परिहारोपस्थापनाः।

२३. ज्ञान-दर्शन-चारित्रोपचाराः।

२४. आचार्योपाध्याय-तपस्वि-शैक्ष्य-ग्लान-गण-कुल-संघ-साधु-मनोज्ञानाम्।

२५. वाचना-पृच्छनानुप्रेक्षाम्नाय-धर्मोपदेशाः।

२६. बाह्याभ्यन्तरोपध्योः।

२७. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्।

२८. आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि।

२९. परे मोक्षहेतू।

३०. आर्त्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः।

३१. विपरीतं मनोज्ञस्य।

३२. वेदनायाश्च।

३३. निदानं च।

३४. तदविरत-देशविरत-प्रमत्तसंयतानाम्।

३५. हिंसानृत-स्तेय-विषय-संरक्षणेभ्यो रौद्रमविरत-देशविरतयोः।

३६. आज्ञापायविपाक-संस्थान-विचयाय धर्म्यम्।

३७. शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः।

३८. परे केवलिनः ॥३८॥

३९. पृथक्त्वैकत्ववितर्क-सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरत-क्रियानिवर्तीनि।

४०. त्र्येक-योगकाययोगायोगानाम्।

४१. एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे।

४२. अवीचारं द्वितीयम्।

४३. वितर्कः श्रुतम्।

४४. वीचारोऽर्थ-व्यञ्जन-योग-सङ्क्रान्तिः।

४५. सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्तवियोजक-दर्शनमोहक्षपकोप-

शमकोपशान्तमोहक्षपक-क्षीणमोह-जिनाः क्रमशोऽसंख्येय-गुणनिर्जराः।

४६. पुलाक-वकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका निर्ग्रन्थाः।

४७. संयम-श्रुत-प्रतिसेवना-तीर्थ-लिङ्ग-लेश्योपपाद-स्थान-विकल्पतः साध्याः।

अथ दशमोऽध्यायः

१. मोहक्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तराय-क्षयाच्च केवलम्।

२. बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म-विप्रमोक्षो मोक्षः।

३. औपशमिकादि-भव्यत्वानां च।

४. अन्यत्र केवल-सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शनसिद्धत्वेभ्यः।

५. तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्।

६. पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च।

७. आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्ड-बीजवदग्नि-शिखावच्च।

८. धर्मास्तिकायाभावात्।

९. क्षेत्र-काल-गति-लिङ्ग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येकबुद्ध-बोधित-ज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्प-बहुत्वतः साध्याः।

❑ ❑ ❑